चतुर्दशोऽध्यायः।

श्रीमद्भगवद्गीता

(गीतामृतमञ्जूषा)

चतुर्दशोऽध्यायः

परमहंसपरिव्राजकाचार्य दण्डिस्वामी श्रीमद्भागवतानन्द
सरस्वती महाराज का प्रसाद

गीतामण्डली

माधवीकुञ्ज

५०, शिवकुटी, पो० केवलीलाइन्स

इलाहाबाद—४

प्रकाशक :

प्रोफेसर निशीथ कुमार तरफदार, बी० ई०

बिहार कॉलेज ऑफ इंजिनियरिंग

पटना—५ (बिहार)

मुद्रक :

नरेन्द्रकुमार प्राणलाल आचार्य

आचार्य मुद्रणालय

कर्णघण्टा, वाराणसी—१

प्राप्तिस्थान

१—अध्यक्ष, गीतामण्डली,
५० शिवकुटी, इलाहाबाद—४

२—श्री शिवशंकर स्वामी
२३ पुराना किला, लखनऊ

३—श्रीमती छवि बोस
३ ए/११ आजाद नगर, कानपुर

४—श्रीमती रमा मित्रा
११२/२४८ स्वरूपनगर, कानपुर

५—श्रीमती उमादानी
द्वारा श्री डी. आर. दानी, लक्ष्मी-निवास, सिविल लाइन्स, मुरादाबाद

६—प्रो० निशीथ कुमार तरफदार बी० ई०
बिहार इंजिनियरिंग कालेज,
पटना ५ (बिहार)

७—डॉ० मदन मोहन,
रमा आई हॉस्पिटल,
१० कान्वेंट रोड, देहरादून

८—श्री हरिश्चन्द्र श्रीवास्तव, एडवोकेट,
प्रभु टाऊन, रायबरेली

९—श्रीमती माधवी कर,
द्वारा डॉ. एच.एम. कर
सिविल सर्जन, मिर्जापुर

१०—श्री एस. सी. मित्र, १४ बी०,
तिलक ब्रिज, आफिसर्स रेलवे
कॉलोनी नगर, न्यू दिल्ली—१

११—श्री रामकुमार रस्तौगी
धामपुर (बिजनौर)

विज्ञप्ति

भगवान् की असीम कृपा से परमहंस परिव्राजकाचार्य दण्डिस्वामी श्रीभागवतानन्द सरस्वतीजी महाराज द्वारा प्रणीत "गीतामृतमञ्जूषा" का चतुर्दश अध्याय (गुणत्रयविभागयोग) प्रकाशित हो रहा है। इस अध्याय की पाण्डुलिपिन (Manuscript) तैयार करने के लिये योगिराज श्रीपृथ्वी सिंह B. S. c. (Electrical Engineer) ने निःस्वार्थभाव से बहुत परिश्रम किया। इसलिए गीतामण्डली उनके प्रति कृतज्ञता प्रकाश कर रही है।

जिन दानवीर महापुरुषों की सहायता से पिछले कई अध्यायों का प्रकाशन सम्भव हुआ है, यह अध्याय भी उनकी निःस्वार्थं सहायता से ही प्रकाशित हो रहा है, इसलिए गीतामण्डली उनके प्रति बारंबार कृतज्ञता प्रकाश कर रही है।

इति

श्रावणी पूर्णिमा
२४-८-७२

श्रीनिशीथ कुमार तरफदार बी. ई.
सचिव, गीतामण्डली
इलाहाबाद।

प्रकाशक :

प्रोफेसर निशीथ कुमार तरफदार, बी० ई०

बिहार कॉलेज ऑफ इंजिनियरिंग

पटना—५ (बिहार)

मुद्रक :

नरेन्द्रकुमार प्राणलाल आचार्य

आचार्य मुद्रणालय

कर्णघण्टा, वाराणसी–१

प्राप्तिस्थान

१—अध्यक्ष, गीतामण्डली,
५० शिवकुटी, इलाहाबाद–४

२—श्री शिवशंकर स्वामी
२३ पुराना किला, लखनऊ

३—श्रीमती छवि बोस
३ ए/११ आजाद नगर, कानपुर

४—श्रीमती रमा मित्रा
११२/२४८ स्वरूपनगर, कानपुर

५—श्रीमती उमादानी
द्वारा श्री डी. आर. दानी, लक्ष्मी-निवास, सिविल लाइन्स, मुरादाबाद

६—प्रो० निशीथ कुमार तरफदार बी० ई०
बिहार इंजिनियरिंग कालेज,
पटना ५ (बिहार)

७—डॉ० मदन मोहन,
रमा आई हौस्पिटल,
१० कान्वैंट रोड, देहरादून

८—श्री हरिश्चन्द्र श्रीवास्तव, एडवोकेट,
प्रभु टाऊन, रायबरेली

९—श्रीमती माधवी कर,
द्वारा डॉ. एच.एम. कर
सिविल सर्जन, मिर्जापुर

१०—श्री एस. सी. मित्र, १४ बी०, तिलक ब्रिज, आफिसर्स रेलवे कॉलोनी नगर, न्यू दिल्ली—१

११—श्री रामकुमार रस्तौगी
धामपुर (बिजनौर)

विज्ञप्ति

भगवान् की असीम कृपा से परमहंस परिव्राजकाचार्य दण्डिस्वामी श्रीभागवतानन्द सरस्वतीजी महाराज द्वारा प्रणीत "गीतामृतमञ्जूषा" का चतुर्दश अध्याय (गुणत्रयविभागयोग) प्रकाशित हो रहा है। इस अध्याय की पाण्डुलिपिन (Manuscript) तैयार करने के लिये योगिराज श्रीपृथ्वी सिंह B. S. c. (Electrical Engineer) ने निःस्वार्थभाव से बहुत परिश्रम किया। इसलिए गीतामण्डली उनके प्रति कृतज्ञता प्रकाश कर रही है।

जिन दानवीर महापुरुषों की सहायता से पिछले कई अध्यायों का प्रकाशन सम्भव हुआ है, यह अध्याय भी उनकी निःस्वार्थ सहायता से ही प्रकाशित हो रहा है, इसलिए गीतामण्डली उनके प्रति बारंबार कृतज्ञता प्रकाश कर रही है।

इति

श्रावणी पूर्णिमा
२४–८–७२

श्रीनिशीथ कुमार तरफदार बी. ई.
सचिव, गीतामण्डली
इलाहाबाद।

ॐ श्रीपरमात्मने नमः

ॐ नमो भगवते वासुदेवाय

श्रीमद्भगवद्गीता

चतुर्दशोऽध्यायः

"गुणत्रयविभागयोगः"

(क)—पिछले अध्याय के २६ वें श्लोक में यह बताया गया है कि 'स्थावरजङ्गम जितनी भी उत्पन्न होने वाली वस्तुएँ हैं उन्हें तुम क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ के संयोग से उत्पन्न हुई समझो'। सो वह किस प्रकार से सम्भव होता है, यह दिखाने के लिये 'परं भूयः' इत्यादि से इस चतुर्दश अध्याय का आरम्भ किया जाता है अथवा—

(ख) निरीश्वर सांख्यवादियों के मतानुसार क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ का संयोग स्वतन्त्ररूप से होकर सृष्टि का कारण होता है किन्तु ईश्वर के अधीन रहकर ही क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ जगत् के कारण हैं—स्वतन्त्रता से नहीं, यह बात दिखलाने के लिये (अर्थात् सांख्य मत का निराकरण करने के लिये) यह अध्याय आरम्भ किया जाता है।

(ग) १३ वें अध्याय के २१ वें श्लोक में कहा गया है कि पुरुष प्रकृतिस्थ (अविद्यालक्षणा कार्य-कारण रूप से परिणाम प्राप्त हुई प्रकृति में स्थित होकर अर्थात् प्रकृति के कार्य में एकात्म-बुद्धि करके) प्रकृति से जात गुणसमूहों का भोग करता है। इस प्रकार पुरुष के साथ गुणों का सङ्ग (आसक्ति) होने पर (गुणों के कार्य शब्दादि

विषयों में अभिनिवेश होने पर) वह गुणसङ्ग (आसक्ति) ही संसार का (सत्-असत् योनियों में जन्म का) कारण होता है। अतः प्रश्न होगा (१) किस गुण में किस प्रकार से आसक्ति (सङ्ग) होती है ? (२) गुण कौन से हैं ? (३) वे कैसे पुरुष को बद्ध करते हैं ? यह सब बताना चाहिए। इन सब विषयों का विस्तृत रूप से वर्णन करना ही इस अध्याय का उद्देश्य है।

(घ) पूर्व अध्याय के अन्तिम (१३।३४) श्लोक में बताया गया है कि 'भूत समूहों की प्रकृति स्वरूप जो अविद्या है उससे मुक्त होने के विषय में (मुक्ति के उपाय) जो जानते हैं, वे परमपद को प्राप्त हो जाते हैं। अतः भूत-प्रकृति शब्द से कहे हुए गुणों से किस प्रकार मुक्ति हो सकती है ? और उनसे मुक्त हुए पुरुष के क्या लक्षण हैं ? यह भी बताना आवश्यक है। इन सब बातों का विस्तार से वर्णन करने के लिये चौदहवाँ अध्याय आरम्भ किया जाता है। पहले श्रोताओं की रुचि उत्पन्न करने के लिये आगे कहे जाने वाले विषय की (तत्त्वज्ञान की) दो श्लोकों से स्तुति करते हैं—

श्रीभगवानुवाच

परं भूयः प्रवक्ष्यामि ज्ञानानां ज्ञानमुत्तमम्।
यज्ज्ञात्वा मुनयः सर्वे परां सिद्धिमितो गताः ॥ १ ॥

अन्वय—भूयः ज्ञानानाम् उत्तमम् परं ज्ञानम् प्रवक्ष्यामि, यत् ज्ञात्वा सर्वे मुनयः इतः परां सिद्धिम् गताः।

अनुवाद—श्रीभगवान् बोले—अब मैं पुनः समस्त ज्ञानों में उत्तम परम ज्ञान को अर्थात् जो ब्रह्मरूप पर वस्तु विषयक होने के कारण परम है और उत्तम (मोक्षरूप) फलयुक्त होने के कारण उत्तम है, उस परम उत्तम ज्ञान को फिर भली प्रकार कहूँगा, जिसे जानकर समस्त मुनिजनों ने इस देह बन्धन से मोक्ष नाम की उत्तम सिद्धि प्राप्त करली थी।

भाष्यदीपिका—**भूयः**—पुनः **ज्ञानानां**—समस्त ज्ञानों में से ज्ञान शब्द से यहाँ १३।७–११ श्लोकों में अमानित्वादि जो ज्ञान के साधन कहे गये हैं, उन साधनों का ग्रहण नहीं है अर्थात् ज्ञान प्राप्ति के उपाय उन अमानित्वादि अन्तरङ्ग साधनों को नहीं

समझाया गया है वरन् यज्ञादि ज्ञेय-वस्तु विषयक ज्ञानों का ग्रहण है [आत्मज्ञान की प्राप्ति के साधन दो प्रकार से विभक्त हो सकते हैं-(क) **बहिरङ्ग साधन**—निष्काम भाव से शास्त्रविहित यज्ञादि कर्म तथा दान तपस्या आदि के अनुष्ठान से चित्तशुद्धि होती है, चित्तशुद्धि होने के पश्चात् विविदिषा (जिज्ञासा अर्थात् आत्मज्ञान के विषय में जानने की इच्छा) उत्पन्न होती है एवं इसके पश्चात् श्रवण, मनन, निदिध्यासन आदि से जिज्ञासु को ज्ञान प्राप्त होकर मोक्ष लाभ होता है। यज्ञादि कर्म साक्षात् भाव से ज्ञान उत्पन्न करने में समर्थ नहीं हैं किन्तु परम्परा सम्बन्ध से विविदिषा द्वारा तत्वज्ञान लाभ करने में सहायक होने के कारण ये ज्ञान के **बहिरंग साधन**—हैं। किन्तु अमानित्व, अदम्भित्व इत्यादि विंशति प्रकार के जो साधन (१३।७–११) श्लोकों में कहे गये हैं वे साक्षात्भाव से तत्त्वज्ञान को उत्पन्न करते हैं, इस कारण उनको ज्ञान के **अन्तरङ्ग साधन**—कहा जाता है।] अतः यहाँ 'ज्ञानानां' शब्द का अर्थ होगा—यज्ञादि कर्म-विषयक जो ज्ञान हैं, उनमें से **उत्तमम् परं ज्ञानम्**—पर अर्थात् परम ब्रह्म के स्वरूप को जो ज्ञान प्रकाशित करता है वह ज्ञान 'परम' है तथा उत्तम फलयुक्त होने के कारण समस्त ज्ञानों में वह उत्तम है अर्थात् वह साक्षात्भाव से मोक्ष का हेतु होने के कारण उत्तम अर्थात् श्रेष्ठ है। इस प्रकार के उत्तम (सर्वश्रेष्ठ) तथा पर (परमात्मविषयक) ज्ञान को मैं पुनः कहूँगा। [यह यज्ञादि विषयक ज्ञान मोक्ष के लिये उपयुक्त नहीं है किन्तु जो इस अध्याय में बतलाया जायगा वह मोक्ष के लिये उपयुक्त है, इसलिये 'परम' और 'उत्तम' इन दोनों शब्दों से श्रोता की बुद्धि में रुचि उत्पन्न करने के लिये इसकी स्तुति करते हैं] इस ज्ञान का विषय परमात्मा उत्कृष्ट (सर्वश्रेष्ठ) होने के कारण इसे परमज्ञान कहा गया है एवं इस ज्ञान का फल (मोक्ष) भी उत्कृष्ट होने के कारण इसे उत्तम ज्ञान कहा गया है अर्थात् 'परं' इस शब्द से उन साधनों की उत्कृष्ट विषयता तथा 'उत्तमम्' इस पद से उत्कृष्ट फलता कही गई है—यही इन दोनों विशेषणों में अन्तर है (मधुसूदन)।

['भूयः प्रवक्ष्यामि' इस वाक्य का तात्पर्य यह है कि पूर्व अध्यायों में इस ज्ञान का बार-बार उल्लेख किया जा चुका है तथापि मैं तुम्हारे प्रति कृपा करके फिर उसका वर्णन करूँगा क्योंकि आत्मतत्व अत्यन्त सूक्ष्म होने के कारण वह अत्यन्त दुर्बोध

है इसलिये कठिन विषय की पुनः पुनः आलोचना करने पर ही वह समझ में आता है-अन्यथा नहीं।] **यज्ज्ञात्वा सर्वे मुनयः**—जिस ज्ञान को (तत्वज्ञान के साधनों को) जानकर (साधनों के अनुष्ठान द्वारा उनके फलरूप से तत्वज्ञान को प्राप्त कर) सकल मननशील मुनिगण (संन्यासी गण) अर्थात् ब्रह्मविद् यतिगण **इतः**—इस देह बन्धन से मुक्त होने के बाद **परां सिद्धिम् गताः**—मोक्ष नामक परम सिद्धि को प्राप्त हुए हैं, ऐसा परमज्ञान कहूँगा।

टिप्पणी—(१) श्रीधर—चौदहवें अध्याय में प्रकृति और पुरुष की स्वतन्त्रता का निवारण करते हुए गुणों के सङ्ग से संसार की विचित्रता का विस्तारपूर्वक वर्णन करते हैं।

'यावत्संजायते किञ्चित्सत्त्वं स्थावरजङ्गमम्। क्षेत्रक्षेत्रज्ञसंयोगात्तद्विद्धि भरतर्षभ' अर्थात् 'जो कुछ भी वस्तुमात्र (चराचर पदार्थ) उत्पन्न होता है उस सबको हे भरतश्रेष्ठ ! तुम क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ के संयोग से ही उत्पन्न हुआ जानो'—यह बात पहले तेरहवें अध्याय के २६ वें श्लोक में कही गई। वह क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ का संयोग अनीश्वर सांख्यवादियों ने जैसा कहा है ऐसा स्वतंत्रता से नहीं होता है किन्तु ईश्वर की इच्छा से ही होता है। 'गुणों का सङ्ग ही जीवात्मा के अच्छी-बुरी योनियों में जन्म का हेतु है' (गीता १३।२१) इस वाक्य द्वारा कहा हुआ जो संसार सत्त्व आदि गुणों से उत्पन्न होता है, उस संसार की विचित्रता का विस्तार करने की इच्छा करते हुए आगे कहे जाने वाले इस अर्थ की 'परं भूयः' इत्यादि दो श्लोकों द्वारा स्तुति करते हैं—

श्रीभगवान् बोले—

परं भूयः इत्यादि—जिससे जाना जाता है उस उपदेश को ज्ञान कहते हैं। मैं फिर भी तुम से उसी ज्ञान को भलीभांति कहूँगा जो कि 'परम्' है (परमार्थनिष्ठ है) अर्थात् वह उपदेश प्रकृष्ट रूप से दूँगा जिससे तुम परमब्रह्म (परमात्मा) में निष्ठा प्राप्त होकर उसे जान सकोगे। वह ज्ञान किस प्रकार का है ? **उत्तमम्**—जो ज्ञान तप, कर्म आदि विषयक ज्ञानों में मोक्ष का हेतु होने के कारण उत्तम (सर्वश्रेष्ठ) है [उसी का फल बताते हैं—] **यत् ज्ञात्वा इत्यादि**—जिसको जानकर (प्राप्त होकर)

सब मुनि (मननशील ज्ञानी लोग) इस देह बन्धन से परासिद्धि को (मोक्षरूप सिद्धि को) प्राप्त हो गए हैं।

(२) **शंकरानन्द**—पूर्व अध्याय में आत्मा और अनात्मा के तत्त्व को जानने की इच्छा वाले मुमुक्षु को यह शरीर क्षेत्र अर्थात् अनात्मा है और क्षेत्रज्ञ ही अहं पद का अर्थ आत्मा है, इसप्रकार समझाकर एवं क्षेत्र से क्षेत्रज्ञ को विभक्त कर 'क्षेत्रज्ञं चाऽपि मां विद्धि' (सर्व शरीरों में मुझको ही क्षेत्रज्ञ जानो) ऐसा कहकर क्षेत्र से विभक्त (पृथक्) आत्मा ब्रह्म से अभिन्न है, ऐसा प्रतिपादन करके प्रकृति में ही कर्तृत्व और भोक्तृत्व है तथा प्रकृति और उसके कर्मों के साक्षी आत्मा का प्रकृति के गुणों के सम्बन्ध से ही संसार होता है—वस्तुतः संसार नहीं है, ऐसा कहा गया है। उसमें (क)—गुण कौन है ? (ख) गुणों के साथ पुरुष संग कैसे होता है ? (ग) गुण पुरुष को किस प्रकार से बद्ध करता है ? (घ) गुणों से मोक्ष (छुटकारा) कैसे होता है ? (ङ) एवं गुणों से मुक्त हुए पुरुष का क्या लक्षण है ? ऐसी जिज्ञासा होने पर प्रकृति की प्रवृत्ति की सामर्थ्य, प्रकृति के गुणों का विभाग, गुणों का स्वरूप, उनका बन्धनरूप कार्य, अपने-अपने उत्कर्ष (वृद्धि) से परस्पर अभिभव करना (दबा देना) और उनके फलों का भेद, पुरुष का गुणों से बद्ध होने का फल और गुणों से मुक्त होने का फल, गुणों से मुक्त पुरुष के लक्षण एवं गुणों का अतिक्रम करने का उपाय—इन सबका तथा 'कारणं गुणसंगोऽस्य' इस वाक्य के अर्थ का स्पष्टीकरण करने के लिये चौदहवें अध्याय का आरम्भ किया जाता है। उसमें सबसे पहले क्षेत्र क्षेत्रज्ञ से भिन्न है तथा क्षेत्रज्ञ आत्मा ब्रह्म से अभिन्न है, इसप्रकार जानने वाले विदेह कैवल्य के लिये इच्छुक ब्रह्मविद् यति के सम्यक् ज्ञान उत्पन्न होने के पश्चात् उस ज्ञान की रक्षा के लिये तथा जिस ज्ञान के सम्बन्ध में कहा जा रहा है उसके कार्य में प्रवृत्ति की सिद्धि के लिये, गुण और उनके कार्यों का ज्ञान ही उत्कृष्ट है अर्थात् मुक्ति का परम कारण है ऐसा बोधन करने के लिये श्रीभगवान् ने कहा—**भूयः ज्ञानानां परं ज्ञानं**—'त्रिभिर्गुणमयैर्भावैः' (गीता ७।१३ ।), 'इच्छाद्वेषसमुत्थेन' (गीता ७।२७), 'राक्षसीमासुरीं चैव' (गीता ९।१२) इत्यादि वाक्यों से यद्यपि पुनः पुनः पहले कहा गया है तथापि उसकी विशेष प्रतिपत्ति (ज्ञान) के लिये फिर भी गुण तथा उनके

कार्यों के ज्ञान को [जिन ज्ञानों में अर्थात् सांख्य, योग, कर्मादि विषयक ज्ञानों में पर अर्थात् श्रेष्ठ है इस ज्ञान को ।] परत्व का (श्रेष्ठत्व का) हेतु कहते हैं—**उत्तमम्**—परम पुरुषार्थ रूप मोक्ष का कारण होने से यह ज्ञान उत्तम है ।

प्रवक्ष्यामि—इसलिये इस ज्ञान को कहूँगा अर्थात् तुम मेरे भक्त तथा मुमुक्षु हो, इसलिये तुम्हें उस ज्ञान का सम्यक् उपदेश दूंगा अथवा क्षेत्र अनात्मा है और क्षेत्रज्ञ आत्मा है एवं वह 'सत्यं ज्ञानं अनन्तम्' आदि लक्षणविशिष्ट ब्रह्मस्वरूप है अर्थात् वह ब्रह्म ही क्षेत्रज्ञ है, इसप्रकार का ज्ञान मोक्ष के लिए उपयोगी है । उन ज्ञानों में यह गुणों का तथा उनके कार्यों का ज्ञान पर (श्रेष्ठ) अर्थात् उत्तम है । यद्यपि आत्मा और अनात्मा के भिन्नत्व का ज्ञान, आत्मा ब्रह्म से अभिन्न है इसप्रकार का ज्ञान तथा प्रकृति के लय का ज्ञान (प्रकृति का किस प्रकार से आत्मा में लय हो सकता है, यह ज्ञान) ही मुक्ति का नियत असाधारण कारण है तथापि अविद्या कामादि दोषों से युक्त पुरुष का यह ज्ञान अविद्या आदि से प्रतिबद्ध (आवृत) होने के कारण अपना फल नहीं देता है—ऐसा महाभारत आदि ग्रन्थों में प्रसिद्ध है । यह गुण और उसके कार्यों का ज्ञान तो ब्रह्मविद् को गुणों की वासना द्वारा की गई बाहर की प्रवृत्ति से विमुख करके जिससे ज्ञान और उसका फल प्रतिबद्ध नहीं होता है अर्थात् रुक नहीं सकता एवं वह ज्ञान सम्यक् दर्शन की निष्ठा में स्थित करके गुणों से निवृत्ति कर विदेह मुक्ति प्राप्त करा देता है, इसलिये यह ज्ञान आत्मा और अनात्मा के विवेक (पार्थक्य) आदि ज्ञानों से उत्तम है । जिस प्रकार रोग के ज्ञान, औषधि के ज्ञान, अनुपान के ज्ञान तथा पथ्य के ज्ञान की अपेक्षा यह अपथ्य पदार्थ है, इसके खा लेने से औषधि का और आरोग्य का प्रतिबन्धक (बाधा) उपस्थित हो जायेगा क्योंकि अपथ्य का अभाव ही औषधि की आरोग्यसिद्धि के लिये एकमात्र बल है, उसीप्रकार का ज्ञान और ज्ञान के फलों की रोकने वाले गुणों का और उनके कार्यों का पूर्वोक्त ज्ञान ज्ञानों से उत्तम है क्योंकि गुणों और उनके कार्यों के सम्बन्ध का अभाव ही उसकी फलसिद्धि के लिये ज्ञान का एकमात्र बल है । इसलिये जो कहा है कि गुण और गुणों के कार्यों का ज्ञान अन्य ज्ञानों से उत्तम है यह युक्तियुक्त ही है, यही अब स्पष्ट करते हैं । **यज्ज्ञात्वा सर्वे मुनयः इतः परां सिद्धिं गताः**—श्रवणादि से उत्पन्न हुए ज्ञान के संरक्षण का

एवं गुणों का अतिक्रम करने में हेतु होने के कारण गुणों और गुणों के कार्य का ज्ञान मुक्ति का परम कारण है, ऐसा जानकर अर्थात् उस ज्ञान को प्राप्त कर उस ज्ञान से जो कर्तव्य है उसको करके ब्रह्मवित् शुक आदि संन्यासी इससे (इस त्रिगुणात्मिका प्रकृति से) मुक्त होकर परम पद को [अर्थात् पुनरावृत्ति (पुनर्जन्म) रहित तथा निरतिशय आनन्दरूप होने के कारण सब सिद्धियों से उत्तम सिद्धिरूप विदेह-मुक्ति को गत (प्राप्त) हो गये अर्थात् वे सब उक्त प्रकार के ज्ञान से पूर्णत्व को] प्राप्त हो गये, यही कहने का अभिप्राय है।

(३) **नारायणी टीका**—त्रयोदश अध्याय में कहा है-

यावत्संजायते किंचित्सत्त्वं स्थावरजङ्गमम्।
क्षेत्रक्षेत्रज्ञसंयोगात्तद्विद्धि भरतर्षभ ॥ (गीता १३।२६)

अर्थात् विश्व में जो कुछ भी स्थावरजङ्गम उत्पन्न होता है वह सब क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ के संयोग से ही होता है। अतः इससे सिद्ध हुआ कि जबतक क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ का संयोग रहेगा तब तक संसार की सृष्टि, स्थिति, लय भी होते रहेंगे। इस क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ के संयोग का वियोग ही अर्थात् क्षेत्र को क्षेत्रज्ञ से पृथक् कर क्षेत्रज्ञको आत्म रूप से जानना ही संसार से मुक्ति प्राप्त करने का उपाय है, यह भी कहा गया है। इसलिये भगवान् ने कहा—

'क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोरेवमन्तरं ज्ञानचक्षुषा।
भूतप्रकृतिमोक्षं च ये विदुर्यान्ति ते परम्' ॥ (गीता १३।३४)

अर्थात् जो लोग इसप्रकार ज्ञान नेत्र द्वारा क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ के अन्तर (पृथकत्व) तथा समस्तभूतों की (कार्यवर्ग की) कारणभूता (माया या प्रकृति की) (अतः उससे मोक्ष) तत्त्वज्ञान से निवृत्ति होती है—ऐसा जानते हैं वे परमपद को प्राप्त कर लेते हैं। जिन साधनों से उक्तज्ञानचक्षु प्राप्त हो सकता है उन अमानित्वादि ज्ञान के अन्तरङ्ग साधनों को भी त्रयोदश अध्याय में भगवान् ने बताया (१३।७-११) परन्तु समस्या यही है कि—(१) क्षेत्र (अनात्म-देहादि) से क्षेत्रज्ञ आत्मा भिन्न है इस प्रकार का ज्ञान, (२) क्षेत्रज्ञ आत्मा का ब्रह्म से अभिन्नत्व का ज्ञान तथा

(३) भूतवर्ग की प्रकृति (माया) के विलापन (लय) होने पर ही परमपद प्राप्त होता है, उसप्रकार का ज्ञान मुक्ति का नियत असाधारण कारण है, इस विषय में संशय का कोई अवकाश नहीं है तथापि अविद्या, काम आदि दोषों से युक्त पुरुष की प्रकृति तथा प्रकृति के कार्य गुणों में जबतक सत्यत्व बुद्धि रहती है तबतक गुणों से सङ्गरहित होकर ब्राह्मीस्थिति (आत्मस्थिति) प्राप्त कर मोक्ष प्राप्त करना असम्भव है क्योंकि तेरहवें अध्याय के २१ वें श्लोक में कहा गया है कि पुरुष प्रकृति के कार्यरूप जागतिक विषयों में सत्यत्व बुद्धि से जब प्रकृतिस्थ होता है अर्थात् उन विषयों में 'मैं और मेरा' अभिमान कर प्रकृति से उत्पन्न हुए विषयों का भोग करता है तबतक सत्त्व, रज, तम इन तीनों गुणों के साथ सङ्ग प्राप्त करके शुभ या अशुभ योनियों में भ्रमण करता है। इसलिये जबतक गुण और गुणों के कार्यों में मिथ्यात्व बुद्धि न हो तबतक गुणों की वासना द्वारा जो बाहर की प्रवृत्ति क्षण-क्षण में उत्पन्न होती है, उससे चित्त को विमुख करके आत्मा में स्थित होकर (गुणों से सङ्गरहित होकर) विदेह मुक्ति प्राप्त करना असम्भव ही है। अतः यज्ञ, तप, दान इत्यादि बहिरङ्ग साधनों से (जिनसे चित्तशुद्धि होती है उन साधनों से) (१३।७–११) कहे गये अमानित्वादि अन्तरङ्ग ज्ञान के साधन **उत्तम** (श्रेष्ठ) हैं क्योंकि इनसे आत्मतत्त्व का मनन तथा निदिध्यासन पुष्ट होता है। अविद्या से ही प्रकृति के कार्यों में सत्यत्वबुद्धि एवं गुणों के साथ संग होता है। अतः गुणों के स्वरूप के ज्ञान से ही गुणों से वियुक्त होकर गुणातीत, नित्यमुक्त परमात्मसत्ता में स्थिति लाभ करना सम्भव है। इसलिये चतुर्दश अध्याय में जो गुणों तथा उनके कार्यों के ज्ञान का वर्णन किया जा रहा है उस ज्ञान को भगवान् ने 'परं ज्ञानम् उत्तमम्' [परं (निरतिशय) एवं उत्तम (श्रेष्ठ) ज्ञान] कहा है क्योंकि इस ज्ञान से साक्षात् आत्मस्थिति प्राप्त होती है। अतः उस अध्याय में (१) प्रकृति के गुणों का विभाग (२) गुणों का स्वरूप तथा पृथक्-पृथक् गुण जीव के भिन्न-भिन्न रूप से किस प्रकार बन्धन के हेतु होते हैं अर्थात् उन गुणों का बन्धन रूप कार्य (३) अपने-अपने उत्कर्ष से तीनों गुण परस्पर एक दूसरे को किस प्रकार अभिभूत करते हैं तथा उनके उत्कर्ष के फलों का भेद (४) गुणों से बद्ध पुरुष का फल (५) गुणों से मुक्त पुरुष का फल लक्षण एवं (६) गुणों के अतिक्रम करने के उपाय—ये सब इस

अध्याय में कहे गये हैं क्योंकि गुणों का परिचय तथा गुणों में अनासक्ति ही मुक्ति का प्रधान कारण है, यह गीता में पहले ही स्थान-स्थान पर भगवान् ने कहा है! परन्तु गुणों का दुर्बोध्य होने के कारण पुनः पुनः इसकी आलोचना आवश्यक है। इसलिये भगवान् कह रहे हैं कि—'भूयः प्रवक्ष्यामि' अर्थात् फिर हम गुण और गुणों के कार्यों के सम्बन्ध में प्रकृष्ट रूप से अर्थात् विस्तारपूर्वक कहेंगे क्योंकि 'यज्ज्ञात्वा मुनयः' इत्यादि अर्थात् इस ज्ञान को प्राप्त कर अर्थात् गुण और उनके कार्यों को कल्पनामात्र (अतः मिथ्या) निर्णय कर तथा उनसे सङ्गरहित होकर सब मननशील संन्यासी इस देहबन्धन से परम सिद्धि रूप मोक्षपद को प्राप्त हुए हैं। [जिससे परमात्मा का आत्मा के साथ एकत्व ज्ञान प्राप्त होता है उसे ज्ञान कहा गया है। देहादि में अभिमान रखते हुए भी नाना प्रकार की साधनाओं से सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं। तथापि जबतक तीनों गुणों के साथ सङ्ग रहता है तब तक संसारचक्र में ही भटकना पड़ता है परन्तु जिसप्रकार केवल औषधि से रोग मुक्त नहीं हो सकते परन्तु जो अपथ्य रोग का कारण है उस अपथ्य का ज्ञान तथा उसका त्याग न होने तक रोग से मुक्त होना असम्भव है उसी प्रकार केवल विचार से क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ का ज्ञान होने से ही क्षेत्रज्ञ आत्मा में स्थिति प्राप्तकर संसार से मुक्ति नहीं होती है। परन्तु संसार का हेतुभूत जो गुणों का सङ्ग है उन गुणों के स्वरूप का पूर्ण ज्ञान तथा उस ज्ञान से उन गुणों का त्याग होने पर ही परमसिद्धिको अर्थात् जो सिद्धि प्राप्त होने के पश्चात् और किसी सिद्धि की प्राप्ति का प्रयोजन नही रह जाता है उस परासिद्धि की (अर्थात् परआनन्द स्वरूप की) प्राप्ति होती है—यही 'परासिद्धि' शब्द के कहने का अभिप्राय है]

[पूर्व श्लोक में कहा गया है कि परमात्मविषयक ज्ञान द्वारा मोक्षरूपी परम सिद्धि प्राप्त होती है। अब इस सिद्धि की अव्यभिचारिता (नित्यता) दिखलाते हैं। यद्यपि शुभाशुभ कर्मों के फल किसी न किसी समय भोग द्वारा अवश्य ही नष्ट होते हैं किन्तु मोक्ष अवस्था नित्य (अविनाशी) है क्योंकि आत्मस्वरूप में स्थिति लाभ कर जो मोक्षरूप परम फल प्राप्त होता है वह सृष्टि, प्रलय अथवा अन्य अवस्था में कभी नाश को प्राप्त नहीं होता है यही अब कहते हैं।]

इदं ज्ञानमुपाश्रित्य मम साधर्म्यमागताः ।
सर्गेऽपि नोपजायन्ते प्रलये न व्यथन्ति च ॥ २ ॥

अन्वय—इदम् ज्ञानम् उपाश्रित्य मम साधर्म्यम् आगताः सर्गे अपि न उपजायन्ते, प्रलये च न व्यथन्ति ।

अनुवाद—इस ज्ञान का आश्रय लेकर मेरे साधर्म्य को प्राप्त हुए, सर्ग (सृष्टि) के होने पर भी उत्पन्न नहीं होते तथा प्रलय काल में भी लीन होकर प्रलय के दुःख का अनुभव नहीं करते ।

भाष्यदीपिका-इदं ज्ञानम् उपाश्रित्य—मुक्ति के उत्कृष्ट उपाय रूप से इस उपर्युक्त ज्ञान का (अमानित्वादि ज्ञान के साधनों का) भली भाँति आश्रय लेकर अनुष्ठान करके **मम साधर्म्यम् आगताः**—मुझ परमेश्वर की समानता को [मेरे साथ एक रूपता को अर्थात् अत्यन्त अभेद के कारण मेरे सारूप्य को (मधुसूदन)] प्राप्त होकर **सर्गे अपि न उपजायन्ते**—सर्ग होने पर भी (हिरण्यगर्भादि के साथ जगत् के सृष्टिकाल में भी) फिर उत्पन्न नहीं होता है **प्रलये च न व्यथन्ति**—और प्रलयकाल में अर्थात् ब्रह्मा का विनाशकाल आने पर भी व्यथा को प्राप्त नहीं होता है अर्थात् उस समय अपने स्वरूप से च्युत होकर लय को प्राप्त नहीं होता है । [यहाँ फल का वर्णन ज्ञान की प्रस्तुति के लिये किया गया है । 'साधर्म्य' का अर्थ समान-धर्मता नहीं है क्योंकि गीताशास्त्र में क्षेत्रज्ञ और ईश्वर का भेद स्वीकार नहीं किया गया है ।]

टिप्पणी (१) श्रीधर-इदम् ज्ञानम् उपाश्रित्य—इस कहे जाने वाले ज्ञान का आश्रय लेकर (इन ज्ञान के साधनों का अनुष्ठान करके) **मम साधर्म्यम् आगताः**—मेरी समानधर्मता को (मेरे स्वरूप को) आगता (प्राप्त होकर) साधक **सर्गे अपि**—सृष्टिकाल में भी अर्थात् ब्रह्मा आदि के उत्पन्न होने पर भी **न उपजायन्ते**—नहीं उत्पन्न होते हैं । **प्रलये न च व्यथन्ति**—तथा प्रलय काल में भी व्यथित नहीं होते अर्थात् प्रलय में नाश प्राप्त होने के दुःख को अनुभव नहीं करते हैं अर्थात् पुनः संसार मे नहीं लौटते ।

(२) **शंकरानन्द**—विदेहमुक्ति होने पर संसार में पुनः आवृत्ति नहीं होती है। अतः पुनरावृत्तिरहितत्व आदि विशेषणों से विदेहमुक्ति पर श्रेष्ठ है, ऐसा जो पूर्व श्लोक में कहा गया है उसकी (विदेहमुक्ति की) सिद्धि के लिये ही मुमुक्षुओं को यत्न करना कर्तव्य है इसे स्पष्ट करने के लिये कहते हैं **इदम् ज्ञानम् उपाश्रित्य**—गुण तथा गुणों के कार्य-विषयक जिस ज्ञान को कहने के लिये पहले श्लोक मे उपक्रम (आरम्भ) किया गया है, उस मुक्ति के परम कारणरूप ज्ञान का अवलम्बन कर अर्थात् गुणों के और उनके कार्यों के ज्ञान से जो अनुष्ठान करने योग्य है उसका अवलम्बन कर अर्थात् तीनों गुण एवं उनके कार्यों के ज्ञान से (उन सबका मिथ्यात्व निश्चित कर निरंतर ब्रह्मनिष्ठा से तीनों गुणों का अतिक्रमण कर **मम साधर्म्यम् आगताः**—मेरा (निर्विशेष परम् ब्रह्म का) साधर्म्य (पूर्णत्व अर्थात् 'वह सत्य ज्ञान तथा अनन्त स्वरूप है' अर्थात् 'स्थूल नहीं, अणु नही, ह्रस्व नहीं' इत्यादि श्रुति से प्रसिद्ध मेरे पूर्ण स्वरूप को प्राप्त कर [साधर्म्य शब्द का अर्थ समानजातिरूपादिमत्त्व नहीं है, क्योंकि निरवयव, निर्गुण और निर्विशेष ब्रह्म में जाति आदि धर्मों की सम्भावना नहीं है। यद्यपि सजातीय रूप यानी चतुर्भुजत्व आदि धर्म से युक्त होने पर विद्वान् का भी ब्रह्म से समानधर्मत्व कहा जा सकता है तथापि **'अजातमभूतमप्रतिष्ठितमशब्दमस्पर्शमरूपमरसमगन्धमव्ययम्', 'अप्राणममुखमश्रोत्रमवागमनोऽतेजस्कमचक्षुष्कमगोत्रमशिरस्कमपाणिपादम्'** अर्थात् 'अजात, अभूत, अप्रतिष्ठित अशब्द, अस्पर्श, अरूप, अरस, अगंध, अव्यय', 'अप्राण, अमुख, अश्रोत्र, अवाक्, अमन, अतेजस्क, अचक्षु, अगोत्र अशिरस्क, अपाणिपाद' इस श्रुति से सम्पूर्ण धर्मों का निषेध होने के कारण ब्रह्म में दृश्य धर्म नहीं रह सकते। यदि ब्रह्म में दृश्य धर्म हैं, ऐसा माना जाय तो ब्रह्म में परिच्छिन्नत्व सावयवत्व अनित्यत्व आदि दोषों का प्रसंग होगा एवं 'आकाशवत् सर्वगतश्च नित्यः' (आकाश के समान सर्वगत नित्य) 'साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च' (साक्षी, चेता केवल और निर्गुण) इत्यादि श्रुतियों से विरोध होगा। इसलिये ब्रह्म का साधर्म्य का अर्थ पूर्णत्व ही है क्योंकि श्रुति कहती है 'पूर्णमदः पूर्णमिदं' (वह पूर्ण है यह पूर्ण है) अतः भगवान् कह रहे हैं कि मेरे साधर्म्य को (पूर्णत्व को) अर्थात् मेरे भाव को प्राप्त हुए मुनि (ब्रह्मविद् यति) **सर्गे**

अपि न उपजायन्ते—सर्ग में (महत्तत्व आदि प्राकृतिक सृष्टि में) भी उत्पन्न नहीं होते अर्थात् जन्मों की बीजभूत प्रकृति को अतिक्रम कर चिदेकरस ब्रह्मस्वरूपता को प्राप्त होने के कारण प्रकृति के साथ सम्बन्धरहित होने से महासृष्टि में भी (महा प्रलय के पश्चात् जो सृष्टि होती है उसमें भी उनकी उत्पत्ति नहीं होती **प्रलये न च व्यथन्ति**—महाप्रलय में हिरण्यगर्भ का नाश होने पर भी व्यथित (नष्ट) नहीं होते हैं। अर्थात् परम् सूक्ष्म ब्रह्मभाव को प्राप्त हुए यति प्रलय की क्रिया के विषय नहीं होते हैं। अतः प्रलय क्रिया से उनमें किंचित् चलन (अपने स्वरूप से च्युति) नहीं होता है। अब प्रश्न होगा कि ब्रह्मभाव को प्राप्त हुए मुक्त ब्रह्मविद् की सृष्टि में उत्पत्ति नहीं होगी और प्रलय में भी नाशरूप क्रिया से व्यथा को प्राप्त नहीं होगा, यह तो मुक्ति का स्वरूप ही है, अतः ब्रह्मभाव को प्राप्त हुए मुक्त ब्रह्मविद् की उत्पत्ति या नाश अप्राप्त विषय है। अतः अप्राप्त का प्रतिषेध ही यहाँ किया गया है। इस पर कहते हैं कि ऐसी शंका नहीं करनी चाहिए क्योंकि शिव, विष्णु आदि लोकों में जो लोग सारूप्य आदि मुक्ति को प्राप्त किये हैं उनकी महासृष्टि होने पर सृष्टि एवं महाप्रलय होने पर प्रलय जैसा होता है वैसे ही ब्रह्मभाव को प्राप्त हुए विद्वान् के भी जन्मादि हो सकते हैं, ऐसा संशय पंडित को भो होता है। इस शंका का निवारण करने के लिये तथा मुमुक्षु को निश्शंक होकर जिससे विदेहमुक्ति में प्रवृत्ति हो उसके लिए यह कहा जाता है कि—सर्ग में (सृष्टिकाल में) भी उत्पन्न नहीं होते और प्रलय में व्यथा को प्राप्त नहीं होते। ब्रह्मविद् के अतिरिक्त अन्य प्रकार मुक्त पुरुषों के भी जन्मादि होते हैं इसमें यही वचन प्रमाण है तथा वीतहव्य, जय, विजय आदि भी इस विषय में प्रमाण हैं।

(३) **नारायणी टीका**—पूर्व श्लोक में उक्त ज्ञान से परा सिद्धि (मोक्ष) प्राप्त होती है, यह कहा गया है। किन्तु संचित आदि कर्मों के फलों के भोग के विना संसार-गति से जीव कैसे मुक्त हो सकता है? इसके उत्तर में भगवान् कह रहे हैं कि—

इस (यथोक्त) ज्ञान के साधन का अनुष्ठान कर जीव मुझ परमेश्वर के साधर्म्य (अत्यन्त अभेद) से मेरी स्वरूपता को प्राप्त होते हैं क्योंकि गुणों तथा गुणों के कार्यों के बारे में यह निश्चित होता है कि (क)—भोक्ता (चिदाभास युक्त अन्तः-

करण आदि भोग्य (विषय समूह) एवं भोगरूप क्रिया, ये तीनों ही गुणों के कार्य हैं। (ख)—तीनों गुण प्रकृतिसम्भव हैं अर्थात् प्रकृति या माया से प्रतीत होते हैं एवं (ग) माया की कोई पारमार्थिक सत्ता नहीं है, अतः माया के कार्य गुण एवं गुणों के कार्य भोक्ता, भोग्य, भोग ये सब ही मिथ्या (कल्पित) हैं। इस प्रकार ज्ञान का पूर्णतया अनुष्ठान करने पर जीव मिथ्या गुणों के कार्यों से पूर्णतया वैराग्य युक्त हो सकता है। क्योंकि किसी वस्तु का मिथ्यात्व निर्णय होने के पश्चात् उसके प्रति आसक्ति स्वतः ही निवृत्त हो जाती है अतः चित्त के विक्षेप का कुछ भी हेतु न रहने के कारण चित्त शुद्ध चैतन्यस्वरूप क्षेत्रज्ञ आत्मा में ही स्थित होता है अतः परमब्रह्म के साथ एकत्व अनुभव कर उनके साधर्म्य (तत्स्वरूपता) को प्राप्त होता है। [यहाँ साधर्म्य शब्द का अर्थ समान-धर्मता नहीं है। ब्रह्म जिस प्रकार नित्य, शुद्ध, बुद्ध, मुक्त, असंग, अविकारी, अनन्त (पूर्ण) है उसी प्रकार भगवान् के द्वारा कहे हुए ज्ञान का अनुष्ठान कर मुमुक्षु भी उन धर्मों से युक्त हो जाते हैं। जिस प्रकार भगवान् की सृष्टि काल में कोई उत्पत्ति नहीं होती है तथा प्रलय काल में उनका विनाश नहीं होता है अर्थात् अपने स्वरूप से सृष्टि. स्थिति, प्रलय में वह कभी च्युत नहीं होता है, उसी प्रकार तत्वज्ञानी भी सर्वव्यापक, नित्य सत्य परमात्मभाव को प्राप्त होकर सृष्टि, स्थिति, प्रलय इत्यादि से अतीत होकर अपने अखण्ड, अद्वय, निर्गुण, निष्क्रिय स्वरूप में नित्य ही स्थित रहता है। आत्मा में गुणधर्म नहीं है। निर्गुण आत्मस्वरूप में जब स्थिति होती है तब उस स्थिति को ही उनका धर्म कहा जाता है।] अतः ब्रह्मनिष्ठ पुरुष के ज्ञान से ही सर्व कर्म दग्ध होने के कारण उनके कर्मफल भोगने के लिये जन्म-मृत्युरूप संसार में आवागमन नहीं होता है। इसे ही पूर्व श्लोक में 'परासिद्धि' कहा गया है।

अब यह बतलाते हैं कि क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ का संयोग किस प्रकार से भूतों का कारण होता है—

[पूर्ववर्ती दो श्लोकों में परमात्मविषयक ज्ञान की स्तुति द्वारा श्रोता अर्जुन की रुचि उत्पन्न कर परवर्ती दो श्लोकों से इस कथनीय विषय का वर्णन करते हैं कि परमेश्वर के अधीन होकर ही प्रकृति और पुरुष समस्त भूतों के कारण हैं-सांख्य सिद्धान्त के अनुसार स्वतन्त्रभाव से नहीं-(मधुसूदन)।]

मम योनिर्महद्ब्रह्म तस्मिन्गर्भं दधाम्यहम् ।
सम्भवः सर्वभूतानां ततो भवति भारत ॥ ३ ॥

अन्वय—हे भारत ! महद्ब्रह्म मम योनिः, तस्मिन् अहं गर्भं दधामि । ततः सर्वभूतानां सम्भवः भवति ।

अनुवाद—हे भारत ! समस्त कार्यों की अपेक्षा अधिक (बड़ा) होने के कारण जो महान् है तथा सम्पूर्ण कार्यों की वृद्धि का हेतु होने के कारण जिसको ब्रह्म कहा जाता है, इस प्रकार महद्ब्रह्मरूप अव्याकृत (त्रिगुणात्मिका) प्रकृति ही मेरी योनि (गर्भ स्थापन का स्थान) है । उसमें मैं गर्भ स्थापित करता हूँ, फिर उसी से समस्त भूतों की उत्पत्ति होती है ।

भाष्यदीपिका—हे भारत !—[हे अर्जुन ! तुम महाज्ञानी भरत राजा के वंश में उत्पन्न हुए हो एवं तुम स्वयं ही अर्जुन (शुद्धबुद्धि) हो । अतः जो ज्ञान की बात अब मैं कह रहा हूँ उसे तुम अनायास ही अवधारण कर सकोगे–यही 'भारत' शब्द से सम्बोधन करने का तात्पर्य है ।] **महद्ब्रह्म मम योनिः**—महद्ब्रह्म नामक मुझ ईश्वर की माया (त्रिगुणात्मिका प्रकृति) ही मेरी योनि (गर्भ स्थापन का स्थान) है । मुझ परमेश्वर की आत्मभूता अर्थात् मुझको ही आश्रय कर मुझसे अभिन्न रूप से अवस्थित जो मेरी त्रिगुणात्मिका माया शक्ति है (जिसको प्रकृति कहा जाता है) वह सर्व भूतों की उत्पत्ति का कारण है । अतः वह योनि कहलाती है । मेरी माया या प्रकृति जगत् की सर्व वस्तुओं का कारण है और कारण होने से वह समस्त कार्यों से (उत्पत्तिशील वस्तुओं से) बड़ी है । इसलिये उसे 'महत्' कहा जाता है । फिर वह प्रकृति या माया ही अपने विकारों को सर्वतः व्याप्त कर उनको भरण (धारण) करने वाली होने से उसे 'ब्रह्म' कहा जाता है । अतः इन दोनों प्रकार के विशेषणों से विशेषित होने से मेरी योनि या प्रकृति 'महद्ब्रह्म' है । मधुसूदन सरस्वती ने महद्ब्रह्म शब्द की 'अव्याकृत प्रकृति' अर्थ में व्याख्या की है । **तस्मिन् अहं गर्भं दधामि**—अपनी उस महद्ब्रह्म योनि में मैं (क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ दो प्रकृतिरूप शक्तियों से युक्त ईश्वर) हिरण्यगर्भ के जन्म के बीजरूपी गर्भ को (अर्थात् सर्वभूतों की उत्पत्ति के कारणरूप बीज को)

स्थापित किया करता हूँ अर्थात् अविद्या, कामना, कर्मरूप उपाधि के स्वरूप का अनुवर्तन करने वाले क्षेत्रज्ञ को (उन अविद्या, काम तथा कर्मों के अनुसार भोग्यदेह धारण करने में उद्यत क्षेत्रज्ञ को) क्षेत्र से संयुक्त किया करता हूँ (कार्य-करण-संघातरूप भाग्य क्षेत्र के सहित संयुक्त किया करता हूँ), [इस प्रकार गर्भाधान का फल अब बतला रहे हैं-] **ततः सर्वभूतानां सम्भवः भवति**—उस गर्भाधान से हिरण्यगर्भ की उत्पत्ति द्वारा (अर्थात् उत्पत्ति के पश्चात्) समस्त भूतों की उत्पत्ति होती है। [समस्त कार्य की अपेक्षा अधिक (बड़ा) होने के कारण 'महान्' हैं तथा सम्पूर्ण कार्यों की वृद्धिरूप (बृंहणता) के कारण वह 'ब्रह्म' है। अतः अव्याकृत, त्रिगुणात्मिका प्रकृति या माया ही महद्ब्रह्म है और वही मुझ ईश्वर की योनि-गर्भाधान का स्थान है। उस महद्ब्रह्मरूपा योनि में मैं गर्भ अर्थात् समस्त जीवों की उत्पत्ति का हेतुभूत 'मैं बहु हो जाऊँ, मैं उत्पन्न होऊँ' इस प्रकार का ईक्षणरूप संकल्प धारण करता हूँ अर्थात् उसे इस संकल्प का विषय बनाता हूँ। जिस प्रकार कोई पिता इस लोक में कर्मफल भोगने के लिये आने वाले धान आदि आहार के रूप में अपने में लीन हुए पुत्र को शरीर से युक्त करने के लिये योनि में वीर्यसेचन पूर्वक गर्भाधान करता है और उस गर्भाधान से वह पुत्र शरीरयुक्त हो जाता है तथा उसके बीच में उसकी कललादि अवस्थायें होती हैं, उसी प्रकार प्रलयकाल में मुझमें लीन हुए अविद्या, काम, कर्म और अनुशयवान् (संस्कार-युक्त) क्षेत्रज्ञ को सृष्टि के समय भोग्यरूप क्षेत्र अर्थात् देहेन्द्रिय संघात से युक्त करने के लिये मैं चिदाभाससंज्ञक वीर्यसेचन करके मायावृत्तिरूपी गर्भ को स्थापित करता हूँ। इसके लिये बीच में आकाश, वायु, तेज, जल और पृथ्वी आदि की उत्पत्ति की अवस्थायें होती हैं। फिर हे भारत ! उस गर्भाधान से हिरण्यगर्भादि समस्त भूतों की उत्पत्ति होती है। तात्पर्य यह है कि ईश्वरकृत गर्भाधान के बिना इनकी उत्पत्ति नहीं होती-(मधुसूदन)]

टिप्पणी—(१) श्रीधर—इस प्रकार की प्रशंसा के द्वारा श्रोता के सम्मुख (आग्रहयुक्त) करके अब परमेश्वर के अधीन हुए प्रकृति-पुरुष ही सम्पूर्ण प्राणियों की उत्पत्ति में हेतु है-स्वतन्त्र प्रकृति-पुरुष नहीं, ऐसा कहने के लिये इच्छित विषय का प्रतिपादन करते हैं। **महद्ब्रह्म**—देश और काल से परिच्छिन्न न होने के कारण प्रकृति 'महान्' है और अपने समस्त कार्यों की वृद्धि में हेतु होने के कारण वह 'ब्रह्म' है।

अतः महद्ब्रह्म शब्द का अर्थ प्रकृति है । **मम योनिः**—वह महद्ब्रह्म मुझ परमेश्वर की योनि (गर्भाधान का स्थान) है । **तस्मिन् अहं गर्भं दधामि**—उसमें मैं गर्भाधान [जगत् विस्तार के हेतुभूत चिदाभास का आधान (निक्षेप)] करता हूँ । कहने का अभिप्राय यह है कि प्रलय काल में मुझमें लीन हुए अविद्या, कामना और कर्मों के संस्कारों से युक्त क्षेत्रज्ञ को सृष्टि के समय भोग्य क्षेत्र (देहादि के संघात) से संयुक्त कर देता हूँ । **ततः सर्वभूतानां सम्भवः भवति**—उस गर्भाधान से ब्रह्मादि समस्त प्राणियों का सम्भव (उत्पत्ति) होता है ।

(२) **शंकरानन्द**—इस प्रकार गुणों एवं उनके कार्यों का ज्ञान (क) सम्यग्ज्ञान (तत्त्वज्ञान) की रक्षा का हेतु है (ख) गुणों के अतिक्रमण का उपाय है तथा (ग) विदेहमुक्ति का कारण है, ऐसा प्रतिपादन करके प्रकृति और प्रकृति के गुण मेरी शक्ति से ही अपने कार्यों का निर्वाह करने में समर्थ हैं—स्वतः नहीं हैं, ऐसा सूचित करने के लिये प्रकृति के साथ अपनी शक्ति का सम्बन्ध तथा सब भूतों को उत्पन्न करने की सामर्थ्य का प्रतिपादन करते हैं—**मम योनिः**—मुझ ईश्वरत्व उपाधिभूत योनि अर्थात् मेरी स्वरूपभूत माया (तीनों गुणों की साम्यावस्थारूपा प्रकृति) योनि है अर्थात् सबभूतों की उत्पत्ति का कारण है । वह **महद्ब्रह्म**—अपने सर्व कार्यों की अपेक्षा महान् होने के कारण **महत्**—है और अपने कार्यों की वर्धक होने से अथवा ब्रह्म की उपाधि होने से **ब्रह्म**—कहलाती है । **तस्मिन् अहं गर्भं दधामि**—उस जगत् के बीजभूत ब्रह्म में (अव्यक्त में) साक्षात् एवं परम्परा से (कार्यकारण रूप से) परिणाम की सिद्धि के लिये उससे अवच्छिन्न चैतन्यस्वरूप मैं ईश्वर उससे उपहित अनन्त शक्तिसम्पन्न साभास लक्षणरूप तथा प्रकृति और प्रकृति के गुणों के वर्धन के कारण (हेतु) रूप गर्भ को धारण करता हूँ (निक्षेप करता हूँ) । **सम्भवः सर्वभूतानां ततः भवति भारत**—उससे ही (मेरे आभास से उत्पन्न हुई सामर्थ्य से ही) अथवा मेरे आभास की शक्ति से युक्त महद्ब्रह्मरूप प्रकृति से ही सबभूतों का (महद् आदि के क्रम से आकाशादि सम्पूर्ण भूतों का), भूतों के कार्यों का और चारों प्रकार के [स्वेदज पसीना से उत्पन्न हुए), उद्भिज्ज, अंडज, जरायुज] प्राणियों के शरीरों का सम्भव (उत्पत्ति) होता है अर्थात् सब भूत उससे ही उत्पन्न होते हैं ।

(३) **नारायणी टीका**—पूर्व अध्याय में भगवान् ने कहा कि जितनी भी स्थावरजङ्गम वस्तुएँ हैं वे सब क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ के संयोग से ही उत्पन्न होती है (गीता १३।२६) परन्तु उस संयोग को सांख्यमत में जैसा स्वतन्त्र मानते हैं ऐसा श्रीभगवान् के मत में नहीं है। यह स्पष्ट करने के लिये अब कहते हैं कि महद्ब्रह्मरूप प्रकृति (माया) में ईश्वरकृत गर्भाधान के बिना अर्थात् उसमें ईश्वर के संकल्प आहित (स्थापित) न होने पर भूतों का सृष्टिरूप कार्य सम्भव नहीं होता है। समस्त जागतिक भिन्न-भिन्न कार्यों की अपेक्षा कारणरूपा प्रकृति (सर्वव्यापिनी) होने के कारण उसे महत् कहा जाता है। फिर सर्व कार्यों की उससे ही उत्तरोत्तर वृद्धि होने के कारण प्रकृति को ब्रह्म भी कहा जाता है। इसलिये त्रिगुणात्मिका प्रकृति 'महद्ब्रह्म' है। प्रकृति जड़ है, अतः चैतन्यस्वरूप आत्मा के चिदाभास (कल्पनाशक्ति) से लिप्त न होने तक उसमें सृष्टि करने की सामर्थ्य नहीं होती है। ['अहं बहु स्याम्' (मैं बहु होऊँगा) इस प्रकार परमेश्वर के बहुरूप में प्रकट होने का संकल्प ही चिदाभास है। अतः क्षेत्ररूपा (महद्ब्रह्मरूपा) प्रकृति में क्षेत्रज्ञ आत्मा का संकल्परूप गर्भाधान ही क्षेत्र क्षेत्रज्ञ का संयोग है। अतः यह संयोग ईश्वराधीन है एवं उस संयोग से ही विश्व जगत में सर्व भूतों की उत्पत्ति (सम्भव—सम्यक् प्रकार भवन) होती है।]

समस्त जीव ही स्वरूपतः क्षेत्रज्ञ परमात्मा हैं परन्तु जब वह अपने स्वरूप को भूलकर अज्ञान से प्रकृति के द्वारा सृष्ट हुई देहेन्द्रियों में 'मैं और मेरा' बुद्धि करता है तब वह जीव नाम से अभिहित होता है एवं जबतक इसप्रकार अज्ञान रहता है तब तक जन्म मृत्यु के प्रवाह में भ्रमण करता है। प्रलय काल में जीव अविद्यायुक्त, कामयुक्त, एवं अनुशयवान् होकर (वासना या संस्कार से युक्त होकर) परमेश्वर में लीन रहता है। ईश्वर के द्वारा प्रकृति (माया) में चिदाभासरूप वीर्य का सेचन करने पर प्रकृतिमें सृष्टि करने की वृत्ति उत्पन्न होती है यही गर्भाधान है। मायावृत्ति में उक्त प्रकार गर्भाधान होने के पश्चात् अविद्या, काम और कर्म के संस्कार के अनुसार क्षेत्रज्ञ रूपी जीवसमूहों के कार्य, कारण (देह—इन्द्रियों) के संघातरूप भोग्य क्षेत्र के सहित संयोग होता है एवं उस संयोग से ही ब्रह्मा से लेकर स्तम्ब पर्यन्त सर्व भूतों की सृष्टि ईश्वर के अधीन होकर ही होती है, यही कहने का अभिप्राय है।

समस्त भूतों की पूर्व श्लोक में उक्त गर्भाधान से ही उत्पत्ति होती है ऐसा कैसे निश्चय कर सकते हैं क्योंकि देवादि शरीर विशेषों की किसी अन्य कारण से भी तो उत्पत्ति हो सकती है ? इस पर कहते हैं—

सर्वयोनिषु कौन्तेय मूर्तयः सम्भवन्ति याः ।
तासां ब्रह्म महद्योनिरहं बीजप्रदः पिता ॥ ४ ॥

अन्वय—हे कौन्तेय ! सर्वयोनिषु याः मूर्तयः सम्भवन्ति, तासां महद्ब्रह्म योनिः अहम् बीजप्रदः पिता ।

अनुवाद—हे कुन्तिनन्दन ! समस्त योनियों में जितनी भी स्थावरजङ्गमात्मक मूर्ति (आकार विशेष) हो सकते हैं उनका महद्ब्रह्म ही योनि है और मैं वीर्य स्थापन करने वाला पिता हूँ ।

भाष्यदीपिका—हे कौन्तेय !—हे कुन्ती के पुत्र अर्जुन ! मेरी सन्निधि से प्रेरित होकर मेरी मायाशक्ति समस्त जगत की सृष्टि, स्थिति तथा प्रलय का हेतु होती है। अतः इस जगत् की कोई पारमार्थिक सत्ता नहीं है, सर्वाधिष्ठान रूप से मैं ही एक-मात्र सत्य वस्तु हूँ। यह ज्ञान तुम्हारी माता कुन्ती जी को था अतः वह जगत् का मिथ्यात्व निश्चय कर सर्व अवस्थाओं में सुखदुःख रूप से भी मुझको ही सर्वत्र अनुभव करती थी। तुम भी अपनी माता के समान उसी प्रकार ज्ञान लाभ कर मुझको ऐसे ही जान लोगे। इसप्रकार विश्वास दिलाने के लिये ही भगवान् ने अर्जुन को 'कौन्तेय' कह कर सम्बोधन किया। **सर्वयोनिषु**—सकल योनियों में अर्थात् देव, पितृ, मनुष्य, मृगादि समस्त योनियों में **याः मूर्तयः सम्भवन्ति**—जो भी मूर्तियां [जरायुज, अण्डज, स्वेदज और उद्भिज इत्यादि भेदों से तरह-तरह के अनेकों संस्थान (पृथक् पृथक् अंगों और अवयवों से रचित शरीर)] हो सकती हैं **तासां महद्ब्रह्म योनिः**—उन सब मूर्तियों में कारण रूप से स्थित महत्-ब्रह्मरूप मेरी माया ही योनि (गर्भधारण करनेवाली मातृरूपा) है। **अहं बीजप्रदः पिता**—मैं परमेश्वर बीज प्रदान करने वाला गर्भाधान करने वाला पिता हूँ। [मैं संकल्परूप बीज महद्ब्रह्म में (मायारूपी प्रकृति में) आधान करता हूँ एवं उस

संकल्प के अनुसार महद्ब्रह्म से सब भूतों की उत्पत्ति होती है, यही कहने का अभिप्राय है।] इससे यह सिद्ध होता है कि जितने कारण हैं ये महद्ब्रह्म के ही अवस्थाविशेष है। अतः पूर्ववर्ती श्लोक में यह ठीक ही कहा है कि महद्ब्रह्म से ही समस्त भूतों की उत्पत्ति होती है।

टिप्पणी (१) श्रीधर—केवल सृष्टि के प्रारम्भ में ही मेरे अधीन होकर प्रकृति और पुरुष दोनों के द्वारा यह भूतों के उत्पन्न होने का प्रकार नहीं है वरन् यही नियम सदा ही है, यह कहते हैं—**सर्वयोनिषु इत्यादि**—समस्त मनुष्यादि योनियों में जो स्थावरजङ्गमात्मक मूर्तियां उत्पन्न होती है, उन मूर्तियों का महद्ब्रह्म (प्रकृति) ही मातृस्थानीया योनि है और मैं बीजप्रदान करने वाला (गर्भाधान आदि करने वाला) पिता हूँ।

(२) **शंकरानन्द**—परमात्मा के अनुग्रहवश प्रकृति सम्पूर्ण जगत् की उत्पादक है, ऐसा प्रतिपादन करके अब सर्वभूतों की उत्पादक होने के कारण प्रकृति समस्त जगत् की जननी है और गर्भाधान का कारण होने से (गर्भाधान करने वाला होने से) मैं (परमेश्वर) पिता हूँ—ऐसा सूचित करने के लिये कहते हैं **सर्वयोनिषु**—देव, मनुष्य, तिर्यक् आदि योनियों में **याः मूर्तयः सम्भवन्ति**—जो मूर्तियां (प्राणियों की देह) उत्पन्न होती है **तासां**—उन मूर्तियों (प्राणियों) की यह **महद्ब्रह्म**—पूर्वोक्त लक्षण विशिष्ट ब्रह्मरूपा प्रकृति **योनिः**—जननी है और **अहं बीजप्रदः पिता**—मैं (ईश्वर) बीजप्रद (गर्भ देनेवाला) पिता हूँ। इससे यह सूचित होता है कि माता प्रकृति के एवं मेरे (पितारूप ईश्वर के) प्रसाद से ही (कृपा से ही) मोक्ष होता है क्योंकि—'ज्ञानप्रसादेन विशुद्धसत्त्वः', 'तं ह देवमात्मबुद्धिप्रकाशकम्' (ज्ञान के प्रसाद से विशुद्ध अन्तःकरण वाले, उस आत्मबुद्धि के प्रकाशक देव को) ऐसी श्रुति है तथा 'बुद्धिप्रसादाच्च शिवप्रसादाद्गुरुप्रसादात्पुरुषस्य मुक्तिः' (बुद्धि के प्रसाद से, शिव के प्रसाद से तथा गुरु के प्रसाद से पुरुष की मुक्ति होती है) ऐसी स्मृति है।

(३) **नारायणी टीका**—पूर्व श्लोक में सृष्टि का तत्त्व निरूपण कर अब जो पहले श्लोक में भगवान् ने कहा है कि अब तुमको उन ज्ञान के साधनों में सर्वश्रेष्ठ

ज्ञान को बतलाऊँगा जिसे जानकर सब मुनि परमसिद्धि (मोक्ष) को प्राप्त हो गये। अब वह परमज्ञान क्या है? यह भगवान् स्पष्ट कर कह रहे हैं—देवता, मनुष्य, पशु, कीट, पतंग पक्षी, वृक्ष, लता इत्यादि योनियों में जो भी शरीरधारी उत्पन्न होते हैं उनकी योनि (मातृस्थानीया) होती है महद्ब्रह्म। उसमें गर्भाधान का कर्ता अर्थात् पिता मैं परमेश्वर हूँ। पहले ही कह चुके हैं कि प्रकृति और पुरुष का संयोग ईश्वर की इच्छा से ही होता है। परमब्रह्म में जब संकल्प का उदय होता है तब वही पुरुष एवं प्रकृति (माया) रूप से द्विधा विभक्त होती है एवं वह संकल्प ही दोनों के संयोग का हेतु है। वस्तुतः माया से ही (कल्पनाशक्ति से ही) समस्त सृष्टि, स्थिति, प्रलयरूप कार्य दिखाई देते हैं। ब्रह्म केवल माया के समस्त कार्यों में अधिष्ठान रूप से सदा ही अपने स्वरूप में स्थित रहता है किन्तु उस चैतन्य स्वरूप अधिष्ठान के बिना तथा चिदाभास रूप बीज (वीर्य) के सेचन के बिना प्रकृति या माया की कोई कार्य करने की सामर्थ्य नहीं है। परमार्थतः शुद्ध चैतन्यस्वरूप उदासीन आत्मा न तो पिता है और न तो माता है। जगत् का बीजरूप संकल्प उसका स्वभाव है एवं वह संकल्पशक्ति ही महत्ब्रह्मरूपा जगत् की योनि (कारणरूपी माया) है। अतः माया के कार्यरूप जगत्-प्रपंच ब्रह्मरूप अधिष्ठान में कल्पित होने के कारण वे मनोविलासमात्र (मिथ्या) हैं। इसलिये भागवत में कहा है—

यदिदं मनसा वाचा चक्षुर्भ्यां श्रवणादिभिः।
नश्वरं गृह्यमाणञ्च विद्धि मायामनोमयम्॥ (भा. ११। ।१

अर्थात् मन से जो कुछ सोचा जाता है, वाणी से जो कुछ कहा जाता है, चक्षुसे जो कुछ देखा जाता है एवं कर्ण से जो कुछ सुना जाता है, वह सभी अर्थात् जो कुछ दृश्यरूप से ग्रहण किया जाता है, वह सब ही विनाशशील है क्योंकि वह माया अर्थात् कल्पनामात्र है। इसप्रकार दृढ़ निश्चय से प्रपंच के मिथ्यात्व का ज्ञान होने पर ही चित्त सर्वप्रकार विक्षेप से रहित होकर आत्मा में स्थित हो सकता है, अतः यह ज्ञान के अन्दर भी सर्वोत्कृष्ट ज्ञान है। इसलिये इसको उत्तमम् (उत्तम) तथा परम् (सर्वश्रेष्ठ) ज्ञान कहते हैं।

पूर्व दो श्लोकों में निरीश्वर सांख्य के मत के निराकरण द्वारा क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ का संयोग ईश्वर अधीन है, ऐसा वर्णन किया है अब (क) किस गुण में किस प्रकार सङ्ग

होता है ? (ख) कौन-कौन से गुण हैं ?, (ग) वे किस प्रकार अज्ञानी जीवको बांध लेते हैं ? यह चौदहों श्लोकों में बताया जायगा—

सत्त्वं रजस्तम इति गुणाः प्रकृतिसम्भावः: ।
निबध्नन्ति महाबाहो देहे देहिनमव्ययम् ।। ५ ।।

अन्वय—हे महाबाहो ! सत्त्वं रजस्तम इति प्रकृतिसम्भवाः गुणाः, देहे अव्ययम् देहिनम् निबध्नन्ति ।

अनुवाद—हे महाबाहो ! सत्त्व रज और तम ये प्रकृति से उत्पन्न होने वाले गुण ही अव्यय (निर्विकार) देही को देह में बांध देते हैं ।

भाष्यदीपिका—हे महाबाहो ! [जिसके बाहुद्वय (दोनों हाथ) महत् (जांघ तक लम्बे) हैं एवं वीरोचित कार्यों के करने में समर्थ हैं, उसे महाबाहो कहते हैं। अतः महाबाहो इसप्रकार सम्बोधन कर श्रीभगवान् अर्जुन को कह रहे हैं कि तुम जब महाबाहु हो अर्थात् असीम बलसंम्पन्न हो तो जिन त्रिगुणों के सम्बन्ध में अब मैं कह रहा हूँ उनसे भयभीत न होकर उनको तुम अन्यान्य शत्रु के समान अनायास ही पराजित कर आत्माको मुक्त करके अपने स्वरूप के राज्य को प्राप्त कर सकोगे ।] **सत्त्वं रजः तमः इति प्रकृतिसम्भवाः गुणाः**—भगवान् की माया से उत्पन्न हुए सत्त्व, रज, तम ऐसे नाम वाले ये तीनों गुण **देहे अव्ययम् देहिनम् निबध्नन्ति**—इस शरीर में देहीको (शरीरधारी अविनाशी क्षेत्रज्ञ को) मानो बांध लेते हैं। [क्षेत्रज्ञ का अविनाशित्व अनादित्वात् इत्यादि (गीता १३।३१) श्लोकों में कहा जा चुका है ।]

इस श्लोक में 'गुण' शब्द पारिभाषिक है अर्थात् वैशेषिक मतानुसार रूप, रस आदि जिसप्रकार द्रव्य के आश्रित हैं, उसीप्रकार यह जो गुणों का वर्णन है वह द्रव्य के आश्रित नहीं है, तथा गुण और गुणवान् का बताना भी अभीष्ट नहीं है क्योंकि प्रकृति तो त्रिगुणमयी है । [तो फिर ये प्रकृतिसम्भव (प्रकृति से उत्पन्न होने वाले) हैं, ऐसा क्यों कहा जाता है ?

उत्तर—तीनों गुणों की साम्यावस्था ही प्रकृति अर्थात् भगवान् की माया है। ये तीनों गुण आपस में अङ्गाङ्गीभाव से विषमता में परिणत होते हैं। इसलिये

इनको प्रकृतिसम्भव (प्रकृति से उत्पन्न होने वाले) कहा गया है। जिसप्रकार जल के पात्र में सूर्य का प्रतिबिम्ब कम्पित होने पर प्रतिबिम्ब के अध्यास द्वारा आकाशस्थित सूर्य को जल के कम्पादि से युक्त दिखाता है उसीप्रकार देही (आत्मा) परमार्थतः सर्व विकारशून्य तथा अव्यय होते हुए भी देह के तादात्म्य अध्यास को प्राप्त होने पर जब जीव बन जाता है तब ये त्रिगुण उस जीव को (देही को) देह में (प्रकृति के कार्यभूत शरीर और इन्द्रियों के संघात में) बांध देते हैं अर्थात् निर्विकार होने पर भी उसे भ्रान्तिवश अपने विकारों से युक्त दिखाते हैं परन्तु जीव का वास्तविक बन्धन नहीं होता है—इसकी व्याख्या पहले 'शरीरस्थोऽपि कौन्तेय न करोति न लिप्यते' (गीता १३।३१) इस श्लोक में कर दी गयी है—(मधुसूदन)]।

कहने का अभिप्राय यह है कि रूपादि गुण द्रव्य के आश्रित होते हैं, ऐसे ही सत्त्वादि गुण सदा क्षेत्रज्ञ के आश्रित होते है एवं अविद्यात्मक (अविद्या, से उत्पन्न होने के कारण उनके आश्रय क्षेत्रज्ञ को मानो बांध लेते हैं। उस क्षेत्रज्ञ को आश्रय बनाकर ही ये गुण अपने स्वरूपको प्रकट करने में समर्थ होते हैं, अतः 'बांधते हैं' ऐसा कहा जाता है।

पूर्व-पक्ष—यह पहले ही कहा गया है कि देही (आत्मा) लिप्त नहीं होता है फिर यह विपरीत बात कैसे कही जाती है कि उसको गुण बांधते हैं?

उत्तर—हमने तो 'इव' शब्द का अध्याहार करके ('इव' यह अतिरिक्त शब्द युक्त कर) इस शंका का परिहार कर दिया है अर्थात् क्षेत्रज्ञ वास्तव में बद्ध नहीं होता है—किन्तु बद्ध हुआ सा प्रतीत होता है। अतः श्लोक में 'निबध्नन्ति' शब्द 'निबध्नन्ति इव' (मानो बद्ध करता है) इस अर्थ में प्रयोग हुआ है।

टिप्पणी—(१) **श्रीधर**—इस प्रकार परमेश्वर के अधीन हुए प्रकृति और पुरुष इन दोनों के द्वारा समस्त प्राणियों की उत्पत्ति का निरूपण करके अब प्रकृति के संयोग से पुरुष संसारी होता है, यह चार श्लोकों द्वारा विस्तार से वर्णन करते हैं। **सत्त्वं रजस्तम इति गुणाः प्रकृतिसम्भवाः**—सत्त्व, रजः और तमः इन नामों वाले तीनों गुणों की प्रकृति से उत्पत्ति हुई है। गुणों की साम्यावस्था ही प्रकृति है। उसके प्रकाश से गुण समूह (सत्व, रज, तम ये तीनों गुण पृथक् पृथक् रूप से प्रकट

होते हैं। इसलिये इनको प्रकृति-सम्भव (प्रकृति से उत्पन्न हुए) हैं, ऐसा कहा जाता है। ये तीनों गुण प्रकृति के कार्यरूप शरीर में तादात्म्य अभिमान ('मैं शरीर हूँ' इस प्रकार अभिमान) करके स्थित हुए चेतन के अंशभूत देही को (शरीरधारी जीव को भली भांति बांधते हैं अर्थात् उन गुणों के कार्य-रूप सुख, दुःख, मोहादि से संयुक्त कर देते हैं, यद्यपि वास्तव में अर्थात् स्वरूपतः जीव अव्यय अर्थात् निर्विकार (विकाररहित अविनाशी) ही है' ।

(२) **शंकरानन्द**—प्रकृति और उसके गुण ईश्वर के अनुग्रह के बल से ही कार्यों को करने में समर्थ हैं, ऐसा प्रतिपादन करके गुण विभाग पूर्वक किस प्रकार जीव के बन्धन के हेतु होते हैं उसे कहते हैं—**सत्त्वं रजः तमः इति गुणाः**—मुक्ति का परम साधन होने के कारण सत्त्व गुण उत्कृष्ट है। इसलिये इसका प्रथम निर्देश है। अब समस्त प्रवृत्तियों का हेतु होने के कारण रजोगुण का सत्त्व गुण के पश्चात् निर्देश है एवं उसके पश्चात् निकृष्ट होने के कारण तमो गुण का निर्देश है। **प्रकृतिसम्भवाः**—ये तीनों गुण प्रकृतिसम्भव हैं। जिससे उत्पन्न होता है वह सम्भव है अर्थात् उपादान को सम्भव कहा जाता है। प्रकृति ही जिनका सम्भव है वे प्रकृति-सम्भव हैं। रूपादि गुणों के समान प्रकृति ही जिनका सम्भव (उपादान) है वे प्रकृति सम्भव हैं। रूपादि गुणों के समान सत्त्वादि गुण केवल द्रव्यमात्र में ही नहीं रहते हैं किन्तु 'कार्य और कारण दोनों का अभेद हैं'। वे गुण प्रकृतिरूप होने के कारण सभी में रहते हैं अतः सम्पूर्ण जगत् गुणमय ही है। इसलिये बाहर विषयरूप से तथा भीतर राग, द्वेष, लोभादि रूपों से, निन्द्रा, आलस्य, प्रमादादि रूपों से एवं शम, दम, सत्य, दया, दाक्षिण्य आदि रूपों से वर्तमान सत्त्व रज तम ये तीनों गुण **देहे अव्ययम् देहिनम् निबध्नन्ति**—देहों में अव्यय (नाशरहित) देही को (आत्मा को) अर्थात् आत्मा के जानने वाले (आत्मविद्) पुरुष को अपने-अपने विकार की व्याप्ति से पृथक् भाव को ('मैं चेतन स्वरूप द्रष्टा हूँ' इस प्रकार के भाव को) तिरोहित (भुला) कर तथा देह में आत्मभाव प्राप्त कराकर अर्थात् 'देह मैं हूँ' इस प्रकार अभिमान उत्पन्न कर देह में बांधते हैं। देह, उसके धर्म तथा उसके कर्म में मैं, मेरा, ऐसा अभिनिवेष कराकर तथा जन्म-मरणादि से संयुक्तकर जीव का नाश करते हैं। 'सर्वेन्द्रियविवर्जितम्' (सम्पूर्ण इन्द्रियों से

रहित), 'असक्तम्' (असक्त), 'प्रकृत्यैव च कर्माणि' (प्रकृति से ही क्रियमाण कर्म) 'न करोति न लिप्यते' (न करता है, न लिप्त होता है) इत्यादि से क्षेत्रज्ञ आत्मा क्षेत्र से, उसके कर्म से रहित है एवं असंग, अकर्ता और अनित्य है, ऐसा प्रतिपादन किया गया है। अतः अब प्रश्न होगा कि ऐसी स्थिति में कूटस्थ, असंग, चिद्रूप आत्मा गुणों से कैसे बद्ध होता है ? इस पर कहते हैं—निष्कल, निष्क्रिय और असंग आत्मा का तो अज्ञान दशा या ज्ञान दशा में **अध्यास**–से ही बन्धन होता है, उसमें वास्तविक बन्धन नहीं है। यदि आत्मा का बन्धन माना जाय तो मोक्ष के अभाव का प्रसंग होगा। इसलिये जिस प्रकार सूर्य का तम (अंधकार) से सम्बन्ध नहीं होता है, उसी प्रकार निरवयव, असंग तथा अविकारी प्रत्यक् आत्मा का अविद्या और उसके कार्य से कभी भी सम्बन्ध नहीं होता है किन्तु जब आत्मा के (अपने स्वरूप के) अनुभव में प्रमाद उपस्थित होता है तब ब्रह्मविद् यति का अनात्म-देहादि में अध्यास ('देह, इन्द्रियां इत्यादि मैं हूँ' इस प्रकार अभिनिवेश) एवं सत्त्वादि तीनों गुणों के अनुसार भेद (भिन्नता) सम्भव होता है। फिर जब नित्य, निरन्तर आत्मा के अनुभव से उक्त अध्यास परित्याग करते (देहादि में आत्मबुद्धि न करते) हुए विद्वान् में दृष्ट दुःख का अभाव, सदा आत्मानन्द रस का अनुभव, गुणों का अतिक्रम और विदेह-मुक्ति ये सब सिद्ध होते हैं। गुणों के दोष से जो यति देहादि में अध्यास करते हैं उसमें तो प्राप्त हुए ज्ञान का संकोच, विक्षेप और जन्मादि बन्धन होते हैं। इसलिये देह, इन्द्रियादि में अथवा अन्य में 'मैं और मेरा' रूप अध्यास से रहित होना ही विद्वान् की जीवनमुक्ति है और उनमें (देह इन्द्रियादि में) मैं और मेरा रूप अध्यास ही बन्धन है। सत्त्वादि गुण रूप दोषों से इस प्रकार अध्यास कर विद्वान् भी संसार में बद्ध होता है, यथा सत्त्वगुण से उत्पन्न हुए दया रूप दोष से दोषित अन्तःकरण से युक्त होकर अनात्म देहादि में आत्मभाव करके जड़ भरत के समान विद्वान् भी मृग में पोष्यत्व (इसका मुझे पोषण करना उचित है) और ममत्व का (यह मेरा है—इस प्रकार का) अध्यास करके स्नेह पाश से बद्ध होकर जन्मादिरूप बन्धन को प्राप्त हुए थे। अतः सत्त्वादि गुण तथा उनके कार्यों से अकम्पित रह कर विदेह-कैवल्य का जो विद्वान् अभिलाषी हैं उनको सदा आत्मनिष्ठा से ही स्थित रहना कर्तव्य है। ऐसा बोधन करने के लिये ही चतुर्दश अध्याय का आरम्भ हुआ है।

(३) नारायणी टीका—१३ वें अध्याय के २१ वें श्लोक में भगवान् ने कहा कि गुण सङ्ग ही जीव के सद्-असद् (शुभ-अशुभ) योनियों में भ्रमण का कारण है। अब वे गुण कहां से उत्पन्न होते हैं ? एवं वे कितने प्रकार के हैं ? तथा वे किसको बद्ध करते हैं ? यह स्पष्ट कर रहे हैं (क) गुण तीन प्रकार के हैं एवं (ख) कार्य भेद से उनको सत्त्व, रज तथा तम, इन तीनों नामों से कहते हैं। गुण एक पारिभाषिक शब्द है। न्यायशास्त्र के अनुसार जिसको द्रव्याश्रित गुण कहा जाता है वह गुण यह नहीं है। ये तीनों गुण प्रकृति से उत्पन्न होते हैं। जब ये तीनों गुण साम्यावस्था में रहते हैं (अर्थात् साम्य अक्षुब्ध अवस्था में चांचल्यरहित अवस्था में रहते हैं) तब उनको ही प्रकृति या अव्यक्त कहा जाता है। इस कारण से ही प्रकृति को त्रिगुणात्मिका कहते हैं किन्तु उस अवस्था में गुणों का कोई कार्य न रहने के कारण वे सत्त्व, रज तम रूप भेदों से भिन्न प्रतीत नहीं होते हैं। प्रकृति में चांचल्य उपस्थित होने पर ही अर्थात् साम्य अवस्था की विकृति होने पर ही सृष्टि के कार्य शुरू होते हैं एवं उस प्रारम्भ-अवस्था में सत्त्व, रज, तम रूपों से गुण प्रकट होते हैं तथा जो कुछ देखा जाता है वह सब इन त्रिगुणों का ही विकार है। 'प्रकृतिसम्भव' (प्रकृति से उत्पन्न हुए हैं) इस पद का यही तात्पर्य है। सृष्टि के आदि में ये तीनों गुण परस्पर अङ्गाङ्गीभाव से परिणाम को प्राप्त होते हैं अर्थात् किसी भी अवस्था में एक दूसरे को छोड़ कर नहीं रहते हैं। जब किसी वस्तु को सात्त्विक कहा जाता है तब इससे यह नहीं सूचित होता है कि रज तथा तम उसमें बिलकुल नहीं हैं। सात्त्विक वस्तु में सत्त्व गुण की प्रबलता रहने के कारण वही मुख्य रूप से प्रकट होता है एवं रज तथा तम सत्त्व गुण से अभिभूत होने के कारण गौणरूप से स्थित रहते हैं।

सत्त्व, रज तथा तम को गुण क्यों कहा जाता है ! इस पर कहा जाता है कि जैसे किसी द्रव्य का गुण उस द्रव्य का आश्रय करने के कारण उसके अधीन रहता है अर्थात् द्रव्याश्रित गुण जिस प्रकार नित्य परतन्त्र है उसी प्रकार सत्त्व, रज, तम ये तीनों गुण क्षेत्रज्ञ आत्मा के अधीन रहते हैं क्योंकि ये क्षेत्रज्ञाश्रित अविद्या (प्रकृति या माया) से ही उत्पन्न होते हैं। अतः द्रव्याश्रित गुण के साथ सत्त्व, रज, तम इन तीनों गुणों की परतन्त्रता विषय में सादृश्य रहने के कारण इनको भी गुण कहते

हैं। (ग) ये तीनों गुण देह में स्थित अव्यय (अविनाशी-अविकारी) देही को (आत्मा को) (गीता १३।३१) देह में बद्ध करते हैं। आत्मा परमार्थतः समस्त विकारों से रहित है तथापि प्रकृति से उत्पन्न हुए सत्त्वादि तीनों गुणों के कार्य स्वरूप देहादि में तादात्म्य अध्यास प्राप्त होकर (देह-इन्द्रियादि मैं हूँ, इस प्रकार अभिमान कर) जीव-भाव को प्राप्त होता है एवं उस देहाभिमानी पुरुष को सत्त्वादि तीनों गुण अपने कार्य सुख, दुःख तथा मोहादि से संयुक्त कर जब तक तत्त्वज्ञान से मोक्ष प्राप्त न हो तब तक संसार के भोगों के लिये बद्ध करता है। वस्तुतः क्षेत्रज्ञाश्रित अविद्या से उत्पन्न होने के कारण अविद्या ही इन गुणत्रय का स्वरूप है। अतः जब तक अविद्या रहती है तब तक ही ये तीनों गुण आत्मा को मानो बद्ध किये हैं—ऐसा प्रतीत होता है एवं ज्ञान होने के पश्चात् त्रिगुणों का सम्पूर्णतया लय होने के कारण आत्मा मुक्त हुआ सा प्रतीत होता है। वस्तुतः बन्धन और मोक्ष दोनों ही अविद्यात्मक त्रिगुणों का खेल है क्योंकि पारमार्थिक दृष्टि से आत्मा कभी नित्य सत्य, बुद्ध, मुक्त स्वभाव से च्युत नहीं होता है। अतः आत्मा में न तो बन्धन है और न मुक्ति ही है।

[पूर्व श्लोक में कहे गये तीनों गुणों में से कौन गुण किस सङ्ग से जीव को बांधता है, यह बात बताई जा रही है—]

तत्र सत्वं निर्मलत्वात्प्रकाशकमनामयम् ।
सुखसङ्गेन बध्नाति ज्ञानसङ्गेन चानघ ॥ ६ ॥

अन्वय—हे अनघ ! तत्र निर्मलत्वात् प्रकाशकम् अनामयम् सत्वं सुखसङ्गेन ज्ञानसङ्गेन च बध्नाति ।

अनुवाद—उनमें सत्त्वगुण निर्मल होने के कारण प्रकाशक, और उपद्रवरहित अर्थात् सुख की अभिव्यक्ति करने वाला होता है। हे अनघ ! (निष्पाप) वह जीवको सुख के सङ्ग के और ज्ञान से सङ्ग बांधता है।

भाष्यदीपिका— हे अनघ—हे निष्पाप अर्जुन ! [तुम पापरहित हो, अतः तुमको अविद्या से उत्पन्न हुए कोई गुण बन्धन करने में समर्थ नहीं होंगे, यह कहने के लिये ही भगवान् ने अर्जुन को 'अनघ' शब्द से सम्बोधित किया] तत्र—(निर्धारण में

सप्तमी विभक्ति) अर्थात् पूर्व श्लोक में उक्त उन सत्त्वादि तीनों गुणों में से **निर्मलत्वात् प्रकाशकम् अनामयम्**—सत्त्वगुण स्फटिक मणि के समान निर्मल होने के कारण प्रकाशशील और अनामय (उपद्रव रहित) है। सत्त्वगुण निर्मल (स्वच्छ) होने के कारण चैतन्य का प्रकाशक अर्थात् तमोगुण द्वारा किये हुए चैतन्य के आवरण को तिरोहित (नष्ट) कर वह स्फटिक-मणि के समान चेतन ब्रह्म के प्रतिबिम्ब को ग्रहण करने में समर्थ है। वह केवल चैतन्यस्वरूप आत्मा की ही अभिव्यक्ति करने वाला नहीं है किन्तु अनामय भी है। आमय शब्द का अर्थ दुःख है; अतः अनामय शब्द से यह सूचित होता है कि वह दुःख के विरोधी सुख की भी अभिव्यक्ति करने वाला है। **सत्त्वम्**—इसप्रकार सत्त्व गुण **सुखसङ्गेन ज्ञानसङ्गेन च बध्नाति**–सुख के सङ्ग (आसक्ति) से 'बांधता है'। वास्तव में विषयरूप सुख का विषयी आत्मा के साथ 'मैं सुखी हूँ' इसप्रकार सम्बन्ध जोड़ देना अर्थात् आत्माको मिथ्या सुख में नियुक्त कर देना सत्त्वगुण का कार्य है। इसप्रकार सङ्ग ही अविद्या है क्योंकि विषय के धर्म विषयी के धर्म कभी नहीं होते हैं और इच्छा से लेकर धृतिपर्यन्त सब धर्म विषयरूप क्षेत्र के ही हैं—ऐसा भगवान् ने पहले ही कहा है (गीता १३।६)। अतः यह सिद्ध हुआ कि जो आत्मा में आरोपित होने के पश्चात् आत्मा के अपने धर्म रूप से प्रतीत होता है और विषय-विषयी का अज्ञान ही जिसका स्वरूप है ऐसी अविद्या द्वारा ही सत्त्वगुण अनात्मस्वरूप सुख में आत्मा को मानो नियुक्त (आसक्त) कर देता है अर्थात् जो वास्तव में सुखसम्बन्ध से रहित है उस आत्मा को सुखी सा कर देता है। केवल यही नहीं, वह सत्त्वगुण आत्मा को ज्ञान के सङ्ग से भी बांधता है। ज्ञान भी सुख का साथी होने के कारण क्षेत्र (अन्तःकरण) का ही धर्म है–आत्मा का नहीं, कारण यह है कि यदि वे आत्मा के धर्म है, ऐसा मान लिया जाय तो उसमें आत्मा का आसक्त हो जाना तथा उसका बँध जाना संभव नहीं हो सकता है! इसलिए हे निष्पाप (सर्व प्रकार के व्यसन, दोष रहित) अर्जुन! सुख के समान ज्ञान आदि के सङ्ग को भी बंधन करने वाला समझना चाहिए। सुख तथा ज्ञान (विशेष विशेष वस्तुओं का ज्ञान) दोनों ही अन्तःकरण की वृत्तिविशेष हैं। अतः वे अन्तःकरण (क्षेत्र) के धर्म ही हैं। तथापि अविद्या से उत्पन्न हुए सत्त्वगुण के प्रबल होने पर

'मैं सुखी हूँ, मैं ज्ञानी हूँ' (इस विषयपर मेरा ज्ञान है)—इस प्रकार आत्मा में अध्यासरूप सङ्ग होता है। सुख और ज्ञानविशेष ज्ञेय अर्थात् विषय हैं और आत्मा ज्ञाता अर्थात् विषयी है। विषय का धर्म विषयी का धर्म नहीं हो सकता। इसप्रकार सुख तथा ज्ञान के सङ्ग के द्वारा आत्मा में जो बन्धन दिखाई देता है वह अविद्यामात्र ही है। ज्ञान होने के पश्चात् इस बन्धन का नाश स्वतः ही हो जाता है-यही कहने का अभिप्राय है।]

टिप्पणी-(१) श्रीधर—तीनों गुणों में सत्त्वगुण के लक्षण और उससे आत्माको बांधने के प्रकार को बताते हैं—**हे अनघ !**—हे निष्पाप अर्जुन ! **तत्र**—उन गुणों में से **सत्त्वम् निर्मलत्वात् प्रकाशकम् अनामयम्**—सत्त्वगुण निर्मल (स्वच्छ) होने के कारण स्फटिक मणि के समान प्रकाशक (दीप्तियुक्त) और अनामय (उपद्रवरहित-शान्त) है। अतः शान्त होने के कारण **सुखसङ्गेन बध्नाति**—अपने कार्य सुख के साथ जो सङ्ग होता है उनके द्वारा वह (जीव को) बांधता है और प्रकाशक होने के कारण **ज्ञानसङ्गेन च बध्नाति**—अपने कार्य ज्ञान के साथ जो सङ्ग होता है उसके द्वारा बांधता है। कहने का अभिप्राय यह है कि 'मैं सुखी हूँ, ज्ञानी हूँ'—इसप्रकार जो मन के धर्म हैं उनका मन में अभिमानी क्षेत्रज्ञ में संयोग कर देता है अर्थात् मन के धर्म को (क्षेत्र के धर्म को) देह इन्द्रियों के अभिमानी अविद्याग्रस्त क्षेत्रज्ञ में आरोपित करता है।

(२) शंकरानन्द—इसप्रकार सामान्यतः गुणों के सम्यक् कार्यों को दिखला कर प्रत्येक गुण के स्वरूप और कार्यों का प्रतिपादन करते हैं—**तत्र**—उन तीनों गुणों में **सत्त्वम्**—सत्त्वगुण **निर्मलत्वात्**—निर्मल होने से [रज और तम से निवृत्त होने के कारण मलरहित अर्थात् अति स्वच्छ होने से] **प्रकाशकम्**—प्रत्येक वस्तु के (तथा आत्मा के) स्वरूप का अवभासक (प्रकाश करनेवाला) और **अनामयम्**—सत्त्वगुण का आमय (उपद्रव या प्रतिबन्धक) हैं रजोगुण-जनित विक्षेप एवं तमोगुण से उत्पन्न हुए जाड्य (जड़ता) रज और तमोगुण का अभाव होने पर सत्त्वगुण अनामय अर्थात् विक्षेपरहित तथा जड़तारहित हैं। **सुखसङ्गेन बध्नाति**—इसप्रकार के लक्षण से युक्त सत्त्वगुण अपने से सम्बद्ध ब्रह्मवित्को भी सुख के सङ्ग से अर्थात् शब्दादि इष्ट विषय के

साथ इन्द्रियादि के सम्पर्क (सम्बन्ध) से जो सुख उत्पन्न होता है उस सुख में सङ्ग (आसक्ति) से बांधता है अर्थात् जीवको विषय सुख लम्पट बना देता है अथवा शम, दम, दया, अहिंसा, शान्ति आदि साधन सम्पत्ति से ब्रह्मविद् को सुख के सङ्ग से अथवा उपासना से साध्य (प्राप्त होने के योग्य) ब्रह्मलोक, विष्णुलोक अथवा शिवलोक का जो पारलौकिक सुख है उसके सङ्ग से (उसकी कामना से बांधता है अर्थात् ब्रह्मज्ञान तथा उसके सुख की परमानन्द की) अनुभूति से च्युत कर (हटाकर) बहिर्मुख कर देता है **ज्ञानसङ्गेन च अनघ**—यह नानाशास्त्रों के विचार से उत्पन्न हुए ज्ञान के सङ्ग से (शास्त्र जनित ज्ञान के प्रति आसक्ति से) बांधती है। [जिससे फंस जाता है उसे सङ्ग कहा जाता है। तर्क, मीमांसा, सांख्य, योग, आगम और तन्त्रशास्त्र के अर्थज्ञान में ब्रह्मविद् मुनि भी आसक्त होकर बंध जाता है—यही कहने का अभिप्राय है अथवा ईश्वर के महत्व का प्रतिपादन करने वाले शास्त्र से परमेश्वर का ज्ञान होता है, इसलिये उस शास्त्र को ज्ञान कहते हैं। उसमें सङ्ग से उसमें अर्थात् उससे प्रतिपाद्यमान परमेश्वर के गुण के श्रवण, भजन, कीर्तन आदि में आसक्ति से बंधता है अर्थात् ब्रह्मनिष्ठा से हटकर उनमें (कथा के श्रवण, भजन, कीर्तन आदि में) तत्पर हो जाता है।]

(३) **नारायणी टीका**—गुणों के द्वारा ही देह में देही का बंधन होता है। अब सत्त्वगुण किसप्रकार से बांधता है? यह कह रहे हैं—सत्त्वगुण अत्यन्त निर्मल होने के कारण वह जिस आत्मा की सन्निधि से कार्यरूप में परिणत होता है उस आत्मा के प्रतिबिम्ब तथा ज्योति (प्रकाश) को ग्रहण करने में समर्थ होता है। स्वच्छ स्फटिक जिस प्रकार पार्श्वस्थित वस्तु के प्रतिबिम्ब को ग्रहण करता है अतः उसे प्रकाशक कहते हैं। सत्त्वगुण स्थिर तथा शान्त है। इसलिये रजोगुण के समान बुद्धि का विक्षेप उत्पन्न नहीं करता है अथवा तमोगुण के समान बुद्धि को आवृत भी नहीं करता है। अतः इन्द्रियादि के किसी उपद्रव की सृष्टि नहीं करने के कारण यह अनामय अर्थात् उपद्रव-शून्य भी है। सत्त्वगुण के उदय होने के साथ-सांथ बुद्धि आवरणरहित तथा इन्द्रियाँ उपद्रवशून्य होती है एवं स्वतः ही सुख नामक विशेष चित्तवृत्ति का उदय होता है तथा जो पुरुष देह, इन्द्रियाँ तथा अन्तकरण में आत्माभिमान करता है उस देही को यह

चित्तवृत्ति सुख के सङ्ग (आसक्ति) से अर्थात् 'मैं सुखी हूँ' इसप्रकार के अभिमान से बाँध देती है। कहने का अभिप्राय यह है कि आत्मा परमार्थतः सुखस्वरूप है। अतः अविद्या से ही सत्त्वगुण का धर्म जो सुख है वह आत्मा में आरोपित होता है एवं उससे आत्मा स्वयं सुखस्वरूप होने पर भी तथा अन्तःकरण की सुखरूप वृत्ति-विशेष का ज्ञाता होने पर भी उस सत्त्वगुण के धर्म में तादात्म्य अभिमानकर 'मैं सुखी हूँ' ऐसा मानता है, यही बंधन का कारण है। दूसरी प्रकार बंधन होता है ज्ञान में आसक्ति से। सत्त्वगुण प्रकाशक है और प्रकाश ही ज्ञान का धर्म है। अतः सत्त्वगुण के उदय होने से ज्ञान का (वस्तु के यथार्थ तत्त्व को अवधारण करने योग्य ज्ञान का) यह ज्ञान मन का ही धर्म है क्योंकि यह मन की ही विशेष वृत्ति है—स्वरूप-ज्ञान नहीं है। अतः जिस समय जीव 'मैं ज्ञानी हूँ' इसप्रकार अभिमान करता है उस समय सत्त्वगुण का धर्म जो ज्ञान है वह आत्मा में अध्यासित होता है एवं अज्ञान से उत्पन्न हुए इस अध्यास के होने के कारण ही सत्त्वगुण ज्ञान के साथ सङ्ग कराकर जीवात्मा को बद्ध करता है, यह भी अविद्या का ही कार्य है।

(क) सुख और ज्ञान, इनमें से कोई भी आत्मा का धर्म नहीं है। यदि ये आत्मा के धर्म होते तो आत्मा के साथ इनका सङ्ग नहीं हो सकता था क्योंकि सङ्ग तो अपने से किसी भिन्न वस्तु के साथ ही होता है।

(ख) द्वितीयतः सुख तथा ज्ञान के सङ्ग से आत्मा का बन्धन भी नहीं हो सकता है क्योंकि अपने धर्म से स्वयं कोई नहीं बद्ध होता है।

(ग) मैं सुख पा रहा हूँ, मैं ज्ञान लाभ कर रहा हूँ—इसप्रकार बोध तभी सम्भव होता है जब सुख तथा ज्ञान विषय (भोग्य वस्तु) एवं आत्मा विषयी (अर्थात् चेतन भोक्ता) होता है। भोग्य वस्तु-मात्र ही जड़ होता है, दृश्य होता है किन्तु आत्मा चेतन तथा द्रष्टा है। विषय के धर्म से विषयी का बन्धन सम्भव नहीं है जबतक वह विषयी अपना स्वरूप भूलकर (अज्ञान से) विषय या दृश्य सुख तथा ज्ञान में तादात्म्य-अभिमान नहीं करता है। अतः सत्त्व, रज, तम इन गुणों के द्वारा जो कुछ बन्धन कहा जा रहा है वह सभी अविद्या-जनित है। जब साधक श्रवण-मनन निदिध्यासन से साक्षात् अनुभव कर लेता है कि आत्मा सुख प्राप्त नहीं करता है परन्तु सुखस्वरूप ही है,

आत्मा ज्ञान को प्राप्त नहीं करता है क्योंकि आत्मा ज्ञानस्वरूप है, तब वह साधक अपने स्वरूप में ही स्थिति लाभ करने में समर्थ होता है एवं गुणों के द्वारा किये हुए भिन्न-भिन्न बंधनों से एक साथ मुक्त हो जाता है। अतः तत्त्व का साक्षात्कार ही सर्व बन्धनों की निवृत्ति का एकमात्र उपाय है, यह सिद्ध हुआ।

अब रजोगुण किस प्रकार लक्षणविशिष्ट है? एवं किस भाव से जीव को बांधता है? यह बात बताई जाती है—

रजो रागात्मकं विद्धि तृष्णासङ्गसमुद्भवम्।
तन्निबध्नाति कौन्तेय कर्मसङ्गेन देहिनम् ॥ ७ ॥

अन्वय—हे कौन्तेय! रजः रागात्मकम् तृष्णासङ्गसमुद्भवम् विद्धि, तत् देहिनम् कर्मसङ्गेन निबध्नाति।

अनुवाद—तृष्णा और सङ्ग के उत्पत्ति के स्थानरूप रजोगुण को तुम रागरूप समझो। हे कौन्तेय! वह देही को कर्मों की आसक्ति से बांध देता है।

भाष्यदीपिका—हे कौन्तेय!—हे कुन्तीपुत्र अर्जुन! तुम्हारी माता कुन्ती सब कर्म करते हुए भी मुझ परमेश्वर को कर्म तथा कर्म के फलों को सदा ही अर्पण करती थी। इसलिये कर्म एवं कर्म का हेतु रजोगुण तुम्हारी माता को कर्मों में आसक्त कर संसार बंधन में नहीं डाल सका। अतः मेरी प्रीति के लिये ही युद्धादि कर्मों को करते रहने पर भी रजोगुण तुमको बद्ध नहीं कर सकेगा, इस प्रकार आश्वासन देने के लिये ही भगवान् ने अर्जुन को 'कौन्तेय' शब्द से सूचित किया। **रजो रागात्मकम् विद्धि**—रजोगुण रागात्मक है। रञ्जन अर्थ में राग शब्द का व्यवहार होता है। गेरू आदि रंग जिस प्रकार किसी वस्त्र में संलग्न होने पर वह वस्त्र उससे रंजित होकर उसी रूप में परिणत होता है, उसी प्रकार जिसके द्वारा पुरुष विषयों में रंजित होकर विषय के साथ तादात्म्यभाव प्राप्त होता है उसे राग, अर्थात् काम (इच्छा) या गर्द्ध (स्पृहा) कहते हैं। वह राग ही जिसका आत्मा (स्वरूप) है उस रजोगुण को रागात्मक समझो **तृष्णासङ्गसमुद्भवम्**—अप्राप्त वस्तु की अभिलाषा का नाम तृष्णा है और प्राप्त विषय में मन के प्रतिरूप स्नेह को अर्थात् प्राप्त वस्तु का नाश उपस्थित होने पर उसे

बचाने की इच्छा—(मधुसूदन) को आसङ्ग (आसक्ति) कहते हैं। इन तृष्णा और आसक्ति का समुद्भव (सम्यक् प्रकार उत्पत्ति) इस रजोगुण से ही होती है इसलिये रजोगुण को तृष्णासङ्गसमुद्भव कहा जाता है ऐसा जानो। **तत् देहिनम् कर्मसङ्गेन निबध्नाति**—वह रजोगुण देही को (जो वस्तुतः अकर्ता होने पर भी कर्तृत्व के अभिमान से युक्त है उस देहाभिमानी पुरुष को) कर्म-सङ्ग से (कर्मासक्ति से) [दृष्ट और अदृष्ट (इहकाल तथा परकाल में) फल देने वाले जो कर्म हैं उनमें आसक्ति अर्थात् तत्परता से 'मैं यह कर्म करता हूँ और यह फल भोगूँगा' इस प्रकार के अभिनिवेश विशेष से अर्थात् कर्म में कर्तृत्व अभिमान एवं कर्मफल में भोक्तृत्व अभिमान द्वारा जो कर्म में सङ्ग (आसक्ति) प्रकट होता है उससे] बांध देता है अर्थात् संसार-चक्र में जीव को आबद्ध करता है क्योंकि आत्मा परमार्थतः अकर्ता, अभोक्ता होने पर भी रजोगुण जीवात्मा के हृदय में तृष्णा तथा आसङ्ग उत्पन्न कर जीव को कर्म में प्रवृत्त करता है एवं कर्मफल भोग करने के लिये जीव के संसार-चक्र में भ्रमण का हेतु होता है।

टिप्पणी—(१) श्रीधर—रजोगुण के लक्षण और उसके द्वारा बन्धन किस प्रकार होता है यह बताते हैं-**हे कौन्तेय !**—हे कुन्तीनन्दन ! **रजः रागात्मकम् विद्धि**—रजोगुण रागस्वरूप (अनुरंजनरूप अर्थात् जीव की विषय में आसक्ति का कारण) है, ऐसा समझो अतः **तृष्णासङ्गसमुद्भवम्**—वह तृष्णा के सङ्ग को उत्पन्न करने वाला है। अप्राप्त वस्तु की अभिलाषा करना ही तृष्णा है और प्राप्त वस्तु में विशेष आसक्तिरूप वृत्ति को संग कहते हैं। इन तृष्णा तथा सङ्ग दोनों की उत्पत्ति रजोगुण से ही होती है। इसलिये रजोगुण तृष्णासङ्गसमुद्भव है **तत्**—ऐसा वह रजोगुण **देहिनम् कर्मसङ्गेन निबध्नाति**—शरीरधारी (शरीर में अभिमानी) जीव को कर्म में सङ्ग (आसक्ति) के द्वारा अर्थात् जिनका फल दृष्ट (इहलोक में प्राप्त होने वाला) और अदृष्ट (जिनका फल परलोक में प्राप्त होने वाला) है उन कर्मों में सङ्ग अर्थात् आसक्ति के द्वारा निबन्धन करता है (नि अर्थात् अत्यन्त जकड़ कर, बन्धन करता है यानी बांध लेता है) क्योंकि तृष्णा के सङ्ग से ही कर्म में आसक्ति अर्थात् प्रवृत्ति होती है।

(२) शंकरानन्द—पूर्व श्लोक में सत्त्वगुण का निर्मलत्व, प्रकाशकत्व और अविक्षिप्तत्व स्वरूप बतलाकर उसके सुख से एवं ज्ञान से जीव को संयुक्त करना सत्त्वगुण का कार्य है इसका ही निरूपण करके अब रजोगुण का स्वरूप और कार्य कहते हैं—**रजो रागात्मकम्**—जिस रजोगुण का 'सत्त्वं रजः' (१४।५) इससे उपक्रम किया गया है वह रजोगुण रागात्मक है अर्थात् माला आदि विषयों में जो पुरुष को रमाता है अर्थात् आसक्त करता है वह राग है। यह राग (रति) ही जिसका आत्मा (स्वरूप) हैं वह रागात्मक है अर्थात् जो रागरूप या एकमात्र राग से ही वेद्य है (जाना जाता है) उसे रागात्मक कहा जाता है, रजोगुण ऐसा है। फिर वह **तृष्णासङ्गसमुद्भवम्**-अप्राप्त की आशा करना तृष्णा है और प्राप्त में ग्रहण की इच्छा सङ्ग है। इन दोनों का (तृष्णा तथा सङ्ग का) समुद्भव (सम्यक् प्रकार से उत्पत्ति) जिससे होता है वह तृष्णासङ्ग-समुद्भव है। देश और काल से व्यवहित या अव्यवहित पदार्थों की इच्छा को उत्पन्न करने वाले रजोगुण है, ऐसा तुम जानो यही कहने का अभिप्राय है। **तत् देहिनम् कर्मसङ्गेन निबध्नाति**-इसप्रकार के लक्षणों से विशिष्ट रजोगुण देही को (आत्मविद् को) कर्म के सङ्ग से बांधता है। इह लोक एवं परलोक के प्रयोजन का सम्पादन करने वाले लौकिक तथा वैदिक कर्मों में तत्परता को कर्मसङ्ग कहते हैं ब्रह्मविद् पुरुष भी अपने स्वरूप के अनुभव से च्युत होकर (हटकर) रजोगुण द्वारा कर्म-सङ्ग प्राप्त करके नाना प्रकार के कर्मों में प्रवृत्त होकर कर्मठ बन जाता है, यही कहने का तात्पर्य है।

(३) नारायणी टीका—निर्मलत्व तथा अनामयत्व (उपद्रव शून्यत्व अर्थात् विक्षेपशून्यत्व) जिस प्रकार सत्त्वगुण के स्वरूप हैं, उसी प्रकार राग (आसक्ति) ही रजोगुण का आत्मा अर्थात् स्वरूप है। इसलिये रजोगुण को **रागात्मक**—कहा जाता है। जिसप्रकार आम के बीज से आम-फल (आम्रफल प्राप्त होता है उसी प्रकार रागात्मक रजोगुण से जो फल का उद्भव (उत्पत्ति) होता है वह भी राग ही होगा। इस प्रकार से अप्राप्त विषय के लिये तृष्णा एवं प्राप्त विषय के नाश से रक्षा करने के लिये आसङ्ग (आसक्ति) उत्पन्न होता है इसलिये रजोगुण को **तृष्णासङ्गसमुद्भव**—कहते हैं। जब तक विषय के प्रति तृष्णा एवं आसक्ति (आसङ्ग) रहेगी तब तक कर्म में प्रवृत्ति भी अवश्य ही रहेगी अर्थात् रजोगुण प्रबल रहने पर अप्राप्त वस्तु की प्राप्ति के लिये

तथा प्राप्त वस्तु की रक्षा के लिये जीव परवश होकर कर्म करने के लिये बाध्य होता है। यह सभी अज्ञान के कार्य हैं। जब तक देहात्मबुद्धि रहने के कारण जीव को देहादि के द्वारा किये हुए कर्मों में कर्तृत्व तथा उन कर्मों के फल में भोक्तृत्व बुद्धि रहती है, इसको ही **'कर्मसङ्ग'**—कहते हैं। जीव परमार्थतः ब्रह्मस्वरूप होने के कारण अकर्ता तथा अभोक्ता है किन्तु रजोगुण कर्म-सङ्ग द्वारा **देही को**—(देहाभिमानी अज्ञानी पुरुष को) जन्म-मृत्यु रूपी संसार में बांध देता है। तत्वज्ञान बिना इस नितान्त (कड़े) बन्धन से मुक्त होना असम्भव है, यह सूचित करने के लिये ही **निबध्नाति**—क्रिया का प्रयोग हुआ है।

[अब तमोगुण का लक्षण तथा वह जीव को किस प्रकार बद्ध करता है ? यह बताते हैं—]

तमस्त्वज्ञानजं विद्धि मोहनं सर्वदेहिनाम् ।
प्रमादालस्यनिद्राभिस्तन्निबध्नाति भारत ॥ ८ ॥

अन्वय—हे भारत ! तमः तु अज्ञानजम् (अतः) सर्वदेहिनाम् मोहनं विद्धि, तत् (देहिनम्) प्रमादालस्य-निद्राभिः निबध्नाति ।

अनुवाद—हे भारत ! तुम तमोगुण को अज्ञानजनित अतः समस्त देहधारियों को मोहित करने वाला जानो। वह प्राणियों को प्रमाद, आलस्य और निद्रा से बद्ध करता है।

भाष्यदीपिका—हे भारत !—हे अर्जुन ! [तुम धर्मनिष्ठ सात्विक भरत वंश में उत्पन्न हुए हो, अतः तमोगुण तुमको बद्ध करने में समर्थ नहीं होगा इस विषय पर तुम्हारे मन में संशय रहना उचित नहीं अतः 'भारत' कहकर सम्बोधन किया।] **तमः तु अज्ञानजम्**—किन्तु तमोगुण तो अज्ञान से उत्पन्न हुआ है, अतः **सर्वदेहिनाम् मोहनम् विद्धि**—इस कारण से वह समस्त देहधारियों को मोहित करने वाला अर्थात् जीवों के अन्तःकरण में मोह (अविवेक) उत्पन्न करने वाला है, ऐसा जानो (समझो)। तमोगुण अज्ञान से उत्पन्न हुआ है ऐसा कहकर तमोगुण में अज्ञान की दो शक्तियां अर्थात् आवरणशक्ति तथा विक्षेप शक्ति हैं, यह सूचित किया गया है। तमोगुण आत्मा

को आवृत्त करके आत्मस्वरूप को देखने नहीं देता है यही तमोगुण की आवरणशक्ति है फिर आत्मा को आवृत्त कर आत्मा में भ्रान्ति से संसार प्रपंच रूप जगतनाट्य दिखा कर सर्व देहीको (समस्त प्राणियों को) मोहित कर देता है अर्थात् सद् असद् विवेक (अनात्मदेहादि वस्तुओं से आत्मस्वरूप का पार्थक्य निर्णय करने की सामर्थ्य को) हरण कर लेता है एवं विपरीत बुद्धि (असत् वस्तु में सत् बुद्धि एवं सत् वस्तु में असत् बुद्धि) उत्पन्न करता है, यही 'मोहनम्' शब्द का तात्पर्य है। यही (रजोगुण से मिश्रित होकर) तमोगुण की विक्षेप शक्ति हैं। ये आवरणशक्ति तथा विक्षेपशक्ति दोनों ही अज्ञान से उत्पन्न होती है, अतः तमोगुण को 'अज्ञानज' कहा है। **तत् प्रमादालस्य-निद्राभिः निवध्नाति**—वह तमोगुण देही को (अज्ञानी जीवों को) प्रमाद, आलस्य और निद्रा से बद्ध (बांधता) करता है। अन्य कार्यों में आसक्ति रहने के कारण अपना कर्तव्य कर्म न करना अर्थात् उपयुक्त समय में कर्तव्य कर्म के अकरण को (आनन्दगिरि) अथवा वस्तु के विवेक की असमर्थता को (दूसरी वस्तु से इच्छित वस्तु का पार्थक्य निश्चय करने की सामर्थ्य हीनता को) **प्रमाद** कहा जाता है अतः वह सत्त्वगुण का कार्य जो प्रकाश है उसका विरोधी है-(मधुसूदन)। आलस्य निश्चेष्टता के कारण कर्म करने के उत्साह के अभाव को—(आनन्दगिरि) अथवा प्रवृत्ति की असमर्थता को (प्रवृत्ति की कार्य कारिता शक्ति के अभाव को) **आलस्य** कहते हैं। यह रजोगुण से कार्य करने में जो स्वाभाविक प्रवृत्ति होती है, उस प्रवृत्ति का विरोधी है (मधुसूदन) अथवा करने में अनुद्यम (उद्यमहीनता-निश्चेष्टता) ही आलस्य है (श्रीधर)। निद्रा का अर्थ है स्वाप-सो जाना-(आनन्दगिरि) अथवा चित्त का अवसादरूप लय-(श्रीधर) अथवा तमोगुण का अवलम्बन करने वाली वृत्ति (मधुसूदन) अतः निद्रा सत्त्वगुण का प्रकाश तथा रजोगुण की प्रवृत्ति इनदोनों की ही विरोधिनी है। प्रमाद, आलस्य एवं निद्रा से तमोगुण निर्विकार आत्मा को भी विकार प्राप्तकराकर नितरांग (सम्पूर्ण रूप से) बांध देता है, यही 'निवध्नाति' शब्द का तात्पर्य है !

टिप्पणी—(१) श्रीधर—तमोगुण के लक्षण और वह किसप्रकार से जीव को बद्ध करता है, यह बताते हैं—**हे भारत ! तमः तु अज्ञानजम् विद्धि**—हे भरत-नन्दन ! तमोगुण को तुम अज्ञान से (प्रकृति के आवरणशक्तिप्रधान-अंश से) उत्पन्न

हुआ जानो यहाँ ['तु' शब्द सत्त्व और रज की अपेक्षा तमोगुण की भिन्नता दिखाने के लिये है ।] अतः **सर्वदेहिनाम् मोहनम्**—वह समस्त शरीरधारियों को (शरीर में अभिमानी पुरुषों को) मोहित करने वाला (उनमें भ्रांति उत्पन्न कर देने वाला) है। इससे **तत्**—वह तमोगुण **प्रमादालस्यनिद्राभिः निबध्नाति**—प्रमाद, आलस्य और निद्रा के द्वारा देहाभिमानी जीवों को बांधता है । उनमें असावधानता प्रमाद है, उद्यम न करना आलस्य है, और चित्त के अवसादरूप लय को निद्रा कहते हैं ।

(२) शंकरानन्द—अब तम के भी स्वरूप और कार्य का प्रतिपादन करते हैं—**तमः तु अज्ञानजम् विद्धि**—अधिक दोषयुक्त और बन्धन का हेतु होने के कारण तमोगुण रज एवं सत्त्व से विलक्षण है अर्थात् तम से वे दोनों गुण उत्कृष्ट हैं ऐसा बोधन करने के लिये 'तु' शब्द है । तम तो अज्ञान से उत्पन्न होता है । जिसमें सत्ता का ज्ञान प्राप्त नहीं होता वह अज्ञान है, ज्ञान का अभाव अज्ञान नहीं है क्योंकि अभाव से कोई कार्य नहीं हो सकता है । अज्ञान से (अर्थात् अपने स्वरूप का ज्ञान अप्राप्त रहने से) तमोगुण उत्पन्न होता है इसलिये तमोगुण को अज्ञानज कहा है । यद्यपि 'गुणाः प्रकृतिसंभवाः' (गीता १४।५) ऐसा कहकर तीनों गुण ही समान रूप से प्रकृति से उत्पन्न होते हैं—ऐसा (पहले ही) प्रतिपादित किया है तथापि अज्ञान-स्वभाव का जब व्यभिचार होता है अर्थात् अज्ञान पूर्णतया प्रकट रहता है तभी तमोगुण उत्पन्न होता है, इसलिये तमोगुण 'अज्ञानज' विशेषण से विशिष्ट है । अतः **सर्वदेहिनाम् मोहनम् विद्धि**—सब देहियों को (ब्रह्मा से लेकर स्तम्ब तक 'मैं और मेरापन' से सम्बन्धयुक्त सभी प्राणियों को) एक रूप से ही मोहित करता है । जो मोहित करता है अर्थात् स्वयं प्रकट होकर विद्यमान सत्–असत् के विवेक ज्ञान को तिरोहित (दुरीभूत) करता है, वह मोह है । तमोगुण सब प्राणियों का इसप्रकार 'मोहन' है । अतः तम को तो अज्ञानज, मोहन (मोहित करने वाला) और स्वरूप–ज्ञान का आवरक (आवृत करने वाला) जानों, यही कहने का अभिप्राय है । तम के कारण का (किससे उत्पन्न होता है उसका) तथा स्वरूप का वर्णन कर उसके कार्यों को प्रतिपादित करते हैं—**तत् प्रमाद-आलस्य-निद्राभिः निबध्नाति**—अज्ञान जड़ है, उससे उत्पन्न होने के कारण ही तमोगुण विवेक–विज्ञान का आवरक होता है, अतः वह स्वयं प्रमाद, आलस्य

और निद्रा से आत्मा को अर्थात् आत्मा के जानने वाले देही को भी बांधता है अर्थात् अपने गुण से मोहित करके ब्रह्मविद् को भी सदा आत्मनिष्ठा से विमुख करता है [प्रयत्न पूर्वक करने योग्य (कर्तव्य) कार्यों की विस्मृति (भूल जाना) **प्रमाद्–है,** कर्तव्य कार्य में भी श्रद्धा न होने पर जो उत्साह का अभाव होता है वह **आलस्य–है,** बुद्धि की अधिक जड़ता से कर्तव्य को छोड़कर सो जाना **निद्रा–है** । बुद्धि की निर्मलता और विषय-सुख के प्रति आसक्ति से सत्त्वगुण के आविर्भाव को जानकर और विषय में राग तथा कर्मासक्ति से रजोगुण के आविर्भाव को जानकर एवं बुद्धि की जड़ता से, विपरीत प्रत्यय की आविर्भूति से और प्रमाद, निद्रा, आलस्य आदि से तम के आविर्भाव को जानकर ब्रह्मविद् यति स्वयं सत्त्वादि गुणों के विकारों के वश न होकर तत्-तत् विकारों के प्रतियोगी गुणों का आश्रय कर गुणों से दोषों का पराभव करके सदा आत्मानुभूति में स्थित होना चाहिए, ऐसा सूचित करते हैं] ।

(३) नारायणी टीका—सत्त्व, रज, तम, इन तीनों का ही मूल अज्ञान (अविद्या) है तथापि तमोगुण को अज्ञानज (अज्ञान से उत्पन्न हुआ है) ऐसा कहने का तात्पर्य यह है कि सत्त्व गुण से ज्ञान का प्रकाश होता है एवं रजोगुण ध्यान, धारणा इत्यादि में प्रवृत्ति उत्पन्न कर ज्ञान की प्राप्ति में सहायक होता है परन्तु तमोगुण अज्ञान की आवरणशक्ति से उत्पन्न होने के कारण सत्व एवं रजोगुण से पूर्णतः विपरीत है इस विलक्षणता को विशेष भाव से सूचित करने के लिये ही 'तु' (किन्तु) शब्द का प्रयोग हुआ है ।

तमोगुण प्रबल होने पर आत्मा का स्वरूप इसप्रकार आवृत हो जाता है कि उसके प्रकाश की कोई संभावना नहीं रहती है एवं इसलिये देहाभिमानी समस्त पुरुषों को यह इसप्रकार मोहित कर देता है कि जीव अनात्म वस्तु से आत्मवस्तु का विवेक (पृथक्) करने में असमर्थ होकर भ्रान्ति से दृश्यवस्तुओं में दृढ़ सत्यत्व बुद्धि रखकर संसार प्रवाह में भ्रमण करता है। इस तमोगुण से उद्धार करने के लिये जिस रजोगुण से उत्पन्न होने वाली प्रवृत्ति की आवश्यकता है उस प्रवृत्ति का भी अभाव रहता है क्योंकि उसे तमोगुण प्रमाद (यथार्थ वस्तु का निर्धारण करने में असमर्थता आलस्य अर्थात् उद्यम का अभाव, जड़ता तथा निद्रा) से भलीभाँति बद्ध कर देता

है। अतः तमोगुण से सम्पन्न व्यक्ति के उद्धार का कोई पंथ (रास्ता) नहीं है। वह प्रायः आसुरी या राक्षसी भावों से युक्त होता है अतः क्रमशः अधः से अधः गति को प्राप्त करता है। इसलिये भगवान् भी कहेंगे—'ततो यान्त्यधमां गतिम्' (गीता १६।२०) अतः समस्त शास्त्रों का अनुशासन इस तमोगुण से अपने को बचाने के लिये ही है।

[फिर भी उन तीनों गुणों का व्यापार संक्षेप से बतलाया जाता है अर्थात् किस कार्य में किस गुण का उत्कर्ष (अधिकता) रहता है; यह संक्षेप से कहा जा रहा है—]

सत्त्वं सुखे संजयति रजः कर्मणि भारत।
ज्ञानमावृत्य तु तमः प्रमादे संजयत्युत ॥ ९ ॥

अन्वय—हे भारत ! सत्त्वम् सुखे संजयति रजः कर्मणि (संजयति) तमः तु ज्ञानम् आवृत्य प्रमादे संजयति उत।

अनुवाद—हे भरतनन्दन ! सत्त्व गुण जीव को सुख में, रजोगुण कर्म में और तमोगुण ज्ञान का आवरण करके उसे प्रमाद में जोड़ देता है।

भाष्यदीपिका–**हे भारत** ?—हे अर्जुन ! [पवित्र कुल एवं सात्विक भरत वंश में तुम उत्पन्न हुए हो अतः रजः एवं तमोगुण तुम को कर्म में या प्रमाद में आसक्त नहीं कर सकेंगे अथवा तुम 'भा' (ब्रह्मविद्या) में रत हो अतः ये तीनों गुण तुमको जागतिक किसी व्यापार में आसक्त नहीं कर सकेंगे, ऐसा स्मरण कराते हुए श्रीभगवान् ने अर्जुन को यहां 'भारत' शब्द से सम्बोधित किया] **सत्त्वम् सुखे संजयति**—सत्त्वगुण [उत्कृष्ट होने के कारण दुःख के कारण को दबाकर सब देहधारियों को (मधुसूदन)] सुख में संलग्न कर देता है (जोड़ देता है)। [यहाँ सर्वत्र देहिनम् (देहाभिमानी पुरुष को) इस पद का सम्बन्ध है, ऐसा समझना चाहिए। कहने का अभिप्राय यह है कि सत्त्वगुण उत्कर्ष (आधिक्य) प्राप्त होने पर देही को (देहाभिमानी जीव को) सुख में अर्थात् जिससे सुख प्राप्त हो सके इसप्रकार के विषयों में संयुक्त कर देता है।] **रजः कर्मणि**–इसी प्रकार रजोगुण [उत्कृष्ट (अधिक) होकर सुख के कारण को दबाकर (मधुसूदन)] देहाभिमानी पुरुष को कर्म में जोड़ देता है तथा **तमः तु ज्ञानम् आवृत्य प्रमादे संजयति उत**—तमोगुण सत्त्वगुण के

कार्य विवेक ज्ञान को आवृत करके प्रमाद में नियुक्त किया करता है। (प्राप्त कर्तव्य को न करने का नाम प्रमाद है केवल यही नहीं परन्तु तमोगुण जीव को आलस्य में तथा निद्रा में भी जोड़ देता है यही अपि अर्थ में 'उत' शब्द का अभिप्राय है।

टिप्पणी—(१) श्रीधर—सत्त्वादि गुणों की इस प्रकार अपने कार्य करने में जो अतिशय सामर्थ्य है उसका वर्णन करते हैं—**सत्त्वम् सुखे संजयति**—हे भारत ! सत्त्वगुण सुख में संसक्त करता है (जोड़ देता है) अर्थात् दुःख और सुख का कारण रहते हुए भी जीव को सुख के ही अभिमुख (सन्मुख) कर देता है। **रजः कर्मणि**—इसी प्रकार सुखादि का कारण रहते हुए भी रजोगुण कर्म में ही लगाता है। **तमः तु ज्ञानम् आवृत्य प्रमादे संजयति उत**—तथा तमोगुण तो महापुरुषों के सङ्ग से उत्पन्न हुए ज्ञान को भी आवृत (आच्छादित) करके प्रमाद में संयुक्त करता है (लगा देता है) अर्थात् महापुरुषों द्वारा उपदेश किये जाने वाले भावों की अवहेलना करने में संयुक्त (प्रवृत्त) करता है। 'उत' शब्द का अपि (और भी) के अर्थ में प्रयोग हुआ है अर्थात् तमोगुण आलस्य, निद्रा आदि में भी देहाभिमानी पुरुष को संयुक्त करता है (जोड़ देता है), यही उत शब्द का अभिप्राय है।

(२) **शंकरानन्द**—ज्ञाननिष्ठा के परिपंथी (विरोधी) गुणों के कार्यों का निरूपण करते हुए अपने द्वारा कहे हुए गुणों के कार्यों को जो ब्रह्मविद् यति त्यागने की इच्छा करते हैं उनके ज्ञान की दृढ़ता के लिये श्रीभगवान् फिर भी गुणों के कार्यों का वर्णन करते हैं—**हे भारत ?**—हे अर्जुन ! **सत्त्वम् सुखे संजयति**—सत्त्वगुण पुरुष को विषयों के सुख में जोड़ता है (आसक्त करता है) **रजः कर्मणि**—रजोगुण कर्म में (वैदिक या अन्य कर्मों में) संयुक्त (प्रवृत्त) करता हैं। **तमः तु ज्ञानम् आवृत्य प्रमादे संजयति उत**—किन्तु तमोगुण ज्ञान को (स्वरूप के ज्ञान को) आवृत (ढक) कर प्रमाद में (जो ज्ञाननिष्ठा नियम से कर्तव्य है, उसके विस्मरण में अर्थात् भूलने में) जोड़ता है। 'उत' शब्द अपि (भी) के अर्थ में है अर्थात् आलस्य आदि में जोड़ता है, यही कहने का अभिप्राय है।

(३) **नारायणी टीका**—संक्षेप में गुणसमूह का बन्धन इसप्रकार है—सत्त्वगुण सुख में, रजोगुण कर्म में एवं तमोगुण सत्त्वगुण के कार्य यथार्थ ज्ञान को

आच्छादित कर प्रमाद में आबद्ध करते हैं। सत्त्वगुण के उदय होने पर चित्त अपने दुःख की चिन्ता छोड़कर स्वतः ही जिस वस्तु से सुख प्राप्त हो सकता है उसी के प्रति आकृष्ट होता है। गुण शब्द का अर्थ है—रज्जु (रस्सी)। रज्जु का धर्म है बांध लेना। अतः सत्त्वगुण देहाभिमानी पुरुष को सुख के प्रति आकर्षित करते हुए भी वह बन्धन का ही कारण होता है।

आत्मा आनन्दस्वरूप तथा गुणातीत है। अतः जब सत्त्वगुण प्रबल होने पर वह आनन्दस्वरूप साक्षी आत्मा दृश्य विषयों से सुख की प्राप्ति के लिये विषयों में आसक्त होता है, तब यह ज्ञात होता है कि वह अपने यथार्थ स्वरूप को भूलकर अज्ञान से गुणों के कार्यभूत शरीरादि में आत्मबुद्धि कर (गुणों से उत्पन्न हुए देहादि के धर्म तथा कर्म को अपने में आरोपित कर) तुच्छ विषयसुख में आसक्त हुआ है। यही सत्त्व-गुण का बंधन है। रजोगुण के प्रबल होने पर चित्त सुख के लिये चिन्ता को छोड़कर विषयप्राप्ति करने के लिये कर्म में नियुक्त होता है। यह रजोगुण का ही कार्य है। अतः रजोगुण चित्त में विषय-वासना उत्पन्न कर कर्म में जोड़ते हुए जीव के बन्धन का कारण होता है। जो अन्धकार के समान समस्त वस्तुओं का आच्छादक होता है उसे 'तम' कहा जाता है। तमोगुण प्रबल होने पर विचारशक्ति का लोप होने से शास्त्रीय उपदेश-जनित पारमार्थिक ज्ञान को भी आच्छादित कर देता है। अतः वह गुण चित्त को सर्वप्रकार के ज्ञान से (प्रकाश से) विमुख कर अज्ञानरूपी अंधकार में डाल देता है। अर्थात् चैतन्यस्वरूप आत्मा को जड़-सा प्रतीत करा देता है। अतः जिस ज्ञाननिष्ठा से प्रत्येक पुरुष के परमपुरुषार्थ (मोक्ष) की सिद्धि होती है, उस निष्ठा के अभ्यास में तमोगुण असतर्कता एवं चेष्टाहीनता उत्पन्न करता है, यही प्रमाद है। इसके साथ ही तमोगुण अज्ञान से जीव को जोड़ देता है। 'उत' (भी) शब्द से यह सूचित किया गया है कि तमोगुण आलस्य तथा निद्रा के साथ भी जोड़ देता है। कहने का अभिप्राय यह है कि तमोगुण का प्राधान्य होने पर प्रमाद, आलस्य, निद्रा, ये तीनों ही विशेष भाव से प्रकट होते हैं। अतः इस अवस्था में चित्त तत्त्वज्ञान से सर्वप्रकार से निवृत्त होगा, इस विषय में संशय क्या हो सकता है? अतः गुण-समूह (त्रिगुण) ही मनुष्य के शत्रु हैं क्योंकि वे जीव को वलिवर्द (बैल) के समान नासिका से बांधकर अपनी इच्छानुसार

चलाते हैं। अतः प्रत्येक विवेकी पुरुष का यही कर्तव्य है कि रजः तथा तमोगुण का परित्याग कर सत्त्वगुण का आश्रय लेकर ईश्वर की भक्ति से अपने को मुक्त करले। सत्त्वगुण भी बन्धन का हेतु है किन्तु उससे तत्त्वज्ञान प्राप्त होकर जीव सर्वं बन्धन से अपने को मुक्त कर सकता है—यही सत्त्वगुण का विशेषत्व है।

[पूर्ववर्त्ती श्लोक में जैसे कार्य कहे हैं ऐसे कार्य वे तीनों गुण कब करते हैं ?—सो बताया जाता है—]

रजस्तमश्चाभिभूय सत्त्वं भवति भारत।
रजः सत्त्वं तमश्चैव तमः सत्त्वं रजस्तथा ॥ १० ॥

अन्वय—हे भारत ! रजः तमः च अभिभूय सत्त्वं भवति, सत्त्वं तमः च एव अभिभूय रजः भवति तथा सत्त्वं रजः अभिभूय तमः भवति।

अनुवाद—हे भारत ! जब सत्त्वगुण रजोगुण और तमोगुण को दबाकर बढ़ता है तो वह सत्त्वगुण अपना कार्य करने में समर्थ होता है। इसीप्रकार जब सत्त्व तथा तम को दबाकर रजोगुण बढ़ता है तो वह अपना कार्य करने में समर्थ होता है और जब सत्त्व और रजोगुण को दबाकर तमोगुण बढ़ता है तो वह अपना कार्य करने में समर्थ होता है।

भाष्यदीपिका—हे भारत !—हे अर्जुन ! (पूर्व श्लोक की व्याख्या में 'भारत' शब्द का तात्पर्य कहा गया है।) **रजः तमः च अभिभूय सत्त्वं भवति**—रजोगुण और तमोगुण इन दोनों को एक साथ दबाकर जब सत्त्वगुण का उद्भव होता है अर्थात् सत्त्वगुण बढ़ता है तब सत्त्वगुण अपने स्वरूप में प्रकट होकर अपने कार्य ज्ञान और सुखादि का आरम्भ किया करता है **सत्त्वं तमः च एव अभिभूय रजः भवति**—इस प्रकार जब रजोगुण भी सत्त्व और तम इनदोनों गुणों को दबाकर बढ़ता है तब वह कर्म में प्रवृत्ति, विषय की तृष्णा एवं विषयों में आसङ्ग (आसक्ति) आदि असाधारण कार्यों को आरम्भ किया करता है (गीता १४।७) **सत्त्वं रजः तमः (अभिभूय) भवति**—तथा इसीप्रकार जब सत्त्व और रज दोनों गुणों को

एक साथ दबाकर तमोगुण बढ़ता है तो वह भी अपने पूर्वोक्त कार्यों को आरम्भ किया करता है अर्थात् ज्ञान को आच्छादित कर प्रमाद, आलस्य, निद्रा आदि अपने कार्यों के द्वारा देही को (देहाभिमानी पुरुषको वशीभूत करता है।

टिप्पणी—(१) श्रीधर—सत्त्वादि गुण किस कारण से पूर्वोक्त कार्यों को करने में समर्थ होते हैं? यह बताते हैं—**रजः तमः च अभिभूय सत्त्वं भवति**—रज और तम इन दोनों गुणों को दबाकर (इनका तिरस्कार करके) सत्त्वगुण अदृष्ट के बल से उद्भूत होता है अर्थात् बढ़ जाता है। उसके बाद अपने कार्य सुख एवं ज्ञानादि में देही को (देहाभिमानी पुरूष को) संयुक्त करता है। **सत्त्वं तमः च एव अभिभूय रजः भवति**—इसीप्रकार रजोगुण भी सत्त्व और तम इन दोनों को दबाकर बढ़ जाता है उसके पश्चात् अपने कार्य तृष्णा और कर्मादि में देही को संयुक्त करता है। **सत्त्वं रजः अभिभूय तमः भवति**—इसी प्रकार तमोगुण सत्त्व एवं रज को दबाकर वृद्धि को (प्रबलता को) प्राप्त होता है तथा उसके पश्चात् अपने कार्य प्रमाद, आलस्यादि में संयुक्त करता है।

(२) शंकरानन्द—वेणी के गुँथने पर केशों के भागों की जिसप्रकार पृथक्-पृथक् प्रतीति नहीं होती है अर्थात् सब केशों के भाग एकही प्रतीत होते हैं, उसी प्रकार गुणों की समानरूप से (मिलजुल कर) प्रवृत्ति होने पर समष्टिरूप से वे कार्यों के आरम्भक होते हैं अर्थात् वे सभी कार्य तीनों गुणों से ही उत्पन्न होते हैं। इस अवस्था में पृथक्-पृथक् गुण पृथक्-पृथक् कार्यों के आरम्भक कैसे हो सकते हैं? इसप्रकार शंका होने पर कहा जायगा कि प्राणियों के कर्मों के फलों के अनुसार गुणों का ह्रास (घटना) और वृद्धि (बढ़ना) होती है। तीनों गुणों की समानरूप से एक साथ प्रवृत्ति नहीं होती क्योंकि ऐसा होनेपर कर्म और उसके फल की विचित्रता सम्भव नहीं होती इसलिये इनगुणों की गौण तथा प्रधानभाव से अर्थात् गौण एवं मुख्यरूप से प्रवृत्ति होती है, ऐसा बोधन करने के लिये कहते हैं—**रजः तमः च अभिभूय सत्त्वं भवति**—प्राणियों के अदृष्ट वश जब सुखसाध्य होता है (जब सुखप्राप्ति का समय उपस्थित होता है) तो रजोगुण और तमोगुण को दबाकर (क्षीण करके) सत्त्वगुण स्वयं उत्कृष्ट (प्रबल) होता है एवं दोनों गुणों को अंग बनाकर स्वयं अङ्गी (प्रधान)

होकर अपना कार्य करता है अर्थात् सुख और ज्ञान में देही को संयुक्त करता है **सत्त्वं तमः च एव अभिभूय रजः भवति**—उसीप्रकार जब प्राणियों को अदृष्टवश कर्मसाध्य होता है तो सत्त्व तथा तम को दबाकर ही रजोगुण उत्कृष्ट (प्रबल) होता है एवं दोनों गुणों को अङ्ग बनाकर स्वयं अङ्गी होकर अपना कार्य करता है अर्थात् कर्म में देही को प्रवृत्त करता हैं। **सत्त्वं रजः अभिभूय तमः भवति**—इसीप्रकार अदृष्ट वश जब ज्ञान का आवरण (अज्ञान) साध्य होता है तो रजः तथा सत्त्व को दबाकर तमोगुण स्वयं उत्कृष्ट (प्रबल) होता है एवं उन दोनों गुणों को अङ्ग बनाकर स्वयं अङ्गी (प्रधान) होकर अपना कार्य करता है अर्थात् प्रमाद, आलस्य निद्रा आदि से देही को संयुक्त करता है।

(३) नारायणी टीका—संसारी जीव में कभी सत्त्व गुण, कभी रजोगुण और कभी तमोगुण प्रबल होता है। जिस समय जो गुण प्रबल होता है उस समय अन्य दोनों गुण अभिभूत (दबे हुए) रहते है एवं जो गुण बढ़कर प्रबल होता है वह उस समय अपने असाधारण कार्य का आरंभ किया करता है तथा देहाभिमानी पुरुष भी अवश होकर उसी गुण की प्रबलता के अनुसार ही कार्य करता है। गुणविशेष की प्रबलता जीव के अदृष्टवश ही अर्थात् पूर्वकृत कर्मों के फलस्वरूप से ही होती है। अतः सत्त्वगुण अदृष्टवश रजः और तमोगुण को दबाकर वृद्धि कों प्राप्त होता है तो सत्त्वगुण का कार्य दिखाई देता है अर्थात् जीव सुख और ज्ञान के अभिमुख होता है। इसी प्रकार सत्त्व-गुण तथा तमोगुण को दबाकर जब रजोगुण प्रबल होता है तब रजोगुण का कार्य देही में प्रकट होता है अर्थात् जीव अवश होकर कर्म में प्रवृत्त होता है। इसी प्रकार सत्त्व और रज को दबाकर तमोगुण प्रबल होता है तो देही प्रमाद (कर्त्तव्य कर्म में असावधनता), आलस्य (कर्म में अप्रवृत्ति) एवं निद्रा में आसक्त होता है। अतः प्रत्येक प्राणी में किस समय में कौन-सा गुण प्रबल होता है वह उसके कार्य के द्वारा ही जाना जाता है।

[जिस समय जो गुण वृद्धि को प्राप्त होता है उस समय उसके क्या चिन्ह होते हैं सो अब यह इन तीन श्लोकों से बतलाते हैं। पहले सत्त्वगुण का क्या चिन्ह है, सगुण प्रबल होता है यह कहा जा रहा है—]

सर्वद्वारेषु देहेऽस्मिन्प्रकाश उपजायते ।
ज्ञानं यदा तदा विद्याद्विवृद्धंसत्त्व मित्युत ॥ ११ ॥

अन्वय—यदा अस्मिन् देहे सर्वद्वारेषु प्रकाशः ज्ञानम् उपजायते, तदा सत्त्वम् विवृद्धम् इति विद्यात् उत ।

अनुवाद—जिस समय इस देह में समस्त इन्द्रियों में प्रकाश और ज्ञान उत्पन्न (तथा सुखादि के चिन्ह भी दिखाई दें) उस समय सत्त्व की वृद्धि हुई है—ऐसा जानना होगा ।

भाष्यदीपिका—**यदा**—जिस समय **अस्मिन् देहे सर्वद्वारेषु**—इस शरीर के समस्त द्वारों में (आत्मा के भोग आयतनरूप इस देह में उपलब्धि के साधनभूत जो श्रोत्रादि सब इन्द्रियाँ है उनमें) **प्रकाशः ज्ञानम् उपजायते**—प्रकाश रूपी ज्ञान उत्पन्न होता है [दीपक के समान अपने विषय के आवरण का नाश करने वाली जो बुद्धि का परिणाम विशेष (बुद्धि-वृत्ति) होता है, उसका नाम प्रकाश है एवं उससे शब्दादि विषयों का ज्ञान होता है इसलिये वह प्रकाश ज्ञान भी है ।] **तदा सत्त्वम् विवृद्धम् इति विद्यात् उत**—तब [उस समय अर्थात् उस ज्ञानरूपप्रकाश चिन्ह के द्वारा ज्ञान नामक प्रकाश जब शरीर के समस्त द्वारों में (इन्द्रियों में) उत्पन्न हो तब इस ज्ञान के प्रकाशरूपचिन्ह से ही] सत्त्वगुण विशेष भाव से वृद्धि को प्राप्त हुआ है, ऐसा समझना चाहिए । 'उत' शब्द का अपि (और भी) अर्थ में प्रयोग हुआ है अर्थात् इस शब्द से यह सूचित किया गया है सुख, चित्त की प्रसन्नता इत्यादि चिन्हों द्वारा भी यह समझना चाहिए कि सत्त्वगुण प्रबल (बढ़ा) है ।

टिप्पणी (१) श्रीधर—अब बढ़े सत्त्वादि गुणों के चिन्ह तीन श्लोकों द्वारा बताते हैं—**यदा अस्मिन् देहे सर्वद्वारेषु प्रकाशः ज्ञानम् उपजायते**—जब आत्मा के भोग स्थानरूप इस शरीर में सत्त्वादि सभी इन्द्रिय रूपी द्वारों में शब्दादि विषयों के ज्ञानरूप (विषय को जाननारूप) प्रकाश उत्पन्न होता है **तदा सत्त्वम् विवृद्धम् इति विद्यात्**—तब इस प्रकाशरूपी चिन्ह के द्वारा यह समझ लेना चाहिए कि सत्त्वगुण बढ़ा है **उत**—अपि (भी) अर्थात् सुख आदि चिन्हों से भी सत्त्वगुण वृद्धि को प्राप्त है ऐसा जान लेना चाहिए ।

(२) **शंकरानन्द**—सत्त्वादि गुणों की वृद्धि (बढ़ना) तथा ह्रास (घटना) कैसे और किस चिन्ह से जाना जाता है ? क्योंकि उनका उत्कर्ष जानने पर ही उनकी निवृत्ति के लिये प्रयत्न किया जा सकता है—जाने बिना नहीं। ऐसी शंका होने पर कहते हैं—**यदा अस्मिन् देहे सर्वद्वारेषु प्रकाशः ज्ञानम् उपजायते**—जिस समय अन्तःकरण की प्रवृत्ति के सम्पूर्ण द्वारों में (इन्द्रियों में) अर्थात् त्वचा, चक्षु, श्रोत्र, जिह्वा और नासिका में तथा इस देह में ज्ञानप्रसादरूप प्रकाश (स्फुरण) उत्पन्न होता है (प्रकट होता है) **तदा सत्वम् विवृद्धम् इति विद्यात् उत**—उस समय सत्त्वगुण की वृद्धि और रजः एवं तमोगुण का ह्रास (घटना) भी समझना चाहिए अन्तःकरण के प्रसाद अतिशयरूप (अतिशय सुख या प्रसन्नता रूप) चिन्ह से सत्त्वगुण का बढ़ना एवं रज तथा तमोगुण का घटना जानना चाहिए।

(३) **नारायणी टीका**—तेरहवें श्लोक की नारायणी टीका द्रष्टव्य।

[वृद्धि प्राप्त हुए रजोगुण के चिन्ह कैसे दिखाई देते हैं ? यह बताते हैं—]

लोभः प्रवृत्तिरारम्भः कर्मणामशमः स्पृहा।
रजस्येतानि जायन्ते विवृद्धे भरतर्षभ ॥ १२ ॥

अन्वय—हे भरतर्षभ ! लोभः, प्रवृत्तिः, कर्मणाम् आरम्भः, अशमः, स्पृहा; च इति एतानि रजसि विवृद्धे जायन्ते।

अनुवाद—हे भरतश्रेष्ठ ! रजोगुण की वृद्धि होने पर लोभ, प्रवृत्ति (सर्वदा कर्म में प्रवृत्ति), कर्म का आरम्भ (उद्यम), अशान्ति (सदा चित्त का अशान्तभाव) और स्पृहा (विषयों की तृष्णा)—ये चिन्ह प्रकट हो जाते हैं।

भाष्यदीपिका—**हे भरतर्षभ ! लोभः**—हे भरतकुल में [श्रेष्ठ अर्जुन] [सात्त्विक भरतकुल में जब तुम उत्पन्न हुए हो तब तुम में रजोगुण की विशेष वृद्धि की सम्भावना नहीं है अतः इसप्रकार आश्वासन देने के लिये ही भगवान् ने अर्जुन को 'भरतर्षभ' शब्द से सम्बोधित किया] **प्रवृत्तिः**—पर द्रव्य को प्राप्त करने की इच्छा [धन की बहुत सी आमदनी हो जाने पर प्रतिक्षण बढ़ने वाली अभिलाषा को लोभ कहा जाता है अर्थात् इच्छित विषय की प्राप्ति से भी जिसकी निवृत्ति न हो सके परन्तु

दूसरे की वस्तु को प्राप्त करने की निरन्तर इच्छा यदि रहे तो वह इच्छाविशेष ही लोभ है (मधुसूदन)] **प्रवृत्तिः**—सामान्य भाव से सांसारिक चेष्टा [निरन्तर प्रयत्न करते रहना प्रवृत्ति है (मधुसूदन)] **कर्मणाम् आरम्भः**—कर्म का आरम्भ [जिनमें बहुत सा धनव्यय और परिश्रम हो ऐसे काम्य, निषिद्ध, या लौकिक कर्म में अथवा विशाल भवनादि निर्माण करने के लिये उद्यम करना ही आरम्भ है] **अशमः**—उपशम का (चेष्टा की निवृत्ति का) अभाव अर्थात् हर्ष और रागादि से प्रवृत्त होना [यह करके इसे करूँगा, इसप्रकार के संकल्प-प्रवाह के न रूकने के कारण (हर्ष, रागादि से उत्पन्न हुई प्रवृत्ति के कारण) अन्तःकरण के उपशम का अभाव अर्थात् अन्तःकरण की अशान्त अवस्था को 'अशम' कहते हैं] **स्पृहा**—सामान्य भाव से समस्त वस्तुओं में तृष्णा (लालसा) [दूसरे का थोड़ा या बहुत धन देखते ही उसे किसी न किसी उपाय से लेने की इच्छा स्पृहा है—(मधुसूदन)] **इति एतानि रजसि विवृद्धे जायन्ते**—ये सब चिन्ह रजोगुण की विशेष वृद्धि होने पर उत्पन्न होते हैं। कहने का अभिप्राय यह है कि इन चिन्हों से रजोगुण बढ़ा हुआ है—ऐसा समझ लेना चाहिए।

टिप्पणी (१) श्रीधर—हे भरतर्षभ ! **लोभः**—धनादि की अनेक प्रकारसे आय होने पर भी उसके लिये पुनः पुनः बढ़ती हुई अभिलाषा **प्रवृत्तिः**—सदा कर्म में ही लगे रहना **आरम्भः**—कर्म का आरम्भ अर्थात् घर आदि के निर्माण के लिये उद्यम (प्रयत्न) **अशमः**—यह करके फिर यह कार्य करूंगा, इत्यादि संकल्प-विकल्प से कभी उपरत न होना **स्पृहा**—छोटी बड़ी वस्तुओं को देखते ही उन्हें इधर उधर से प्राप्त करने की इच्छा **इति एतानि रजसि विवृद्धे जायन्ते**—ये सब चिन्ह रजोगुण की वृद्धि होने पर प्रकट होते हैं। अभिप्राय यह है कि इन चिन्हों से रजोगुण की वृद्धि हुई है—ऐसा समझना चाहिए।

(२) शंकरानन्द—रजोगुण की वृद्धि होने पर ये चिन्ह उत्पन्न होते हैं, ऐसा कहते हैं। **लोभः**—विद्यमान (प्राप्त) वस्तु के त्याग को न सहना **प्रवृत्तिः**—सामान्यरूप से समस्त इन्द्रियों की चेष्टा **आरम्भः**—लौकिक और वैदिक कर्मों का उपक्रम **अशमः**—काम, संकल्प आदि से अन्तःकरण में उपशम का अभाव **स्पृहा**—

विषय की अभिलाषा इति **एतानि रजसि विवृद्धे जायन्ते**—ये सब कार्य रजोगुण के बढ़ने पर उत्पन्न (प्रकट) होते हैं। इन चिन्हों से रजोगुण की वृद्धि और तमः तथा सत्त्व का ह्रास जानना चाहिए, यही कहने का अभिप्राय है।

(३) नारायणी टीका—तेरहवें श्लोक की नारायणी टीका द्रष्टव्य।

[तमोगुण की वृद्धि होने पर क्या लक्षण (चिन्ह) प्रकट होता है यह बताते हैं–]

अप्रकाशोऽप्रवृत्तिश्च प्रमादो मोह एव च।
तमस्येतानि जायन्ते विवृद्धे कुरुनन्दन ॥ १३ ॥

अन्वय—हे कुरुनन्दन ! अप्रकाशः अप्रवृत्तिः च प्रमादः मोह, एव च तमसि विवृद्धे एतानि जायन्ते।

अनुवाद—हे कुरुनन्दन ! तमोगुण की वृद्धि होने पर अप्रकाश, अप्रवृत्ति प्रमाद और मोह उत्पन्न हो जाते हैं।

भाष्यदीपिका—हे कुरुनन्दन—हे कुरुकुल के आनन्ददायक वंशधर अर्जुन [पवित्र कुरुकुल में तुम्हारा जन्म हुआ है। इस कुल में शास्त्रविहित कर्मों का पालन कर तुम्हारे पूर्वजों ने स्वर्ग या मोक्ष प्राप्त किया, अतः तुम तमोगुण के वशीभूत नहीं होओगे, यह कहने के अभिप्राय से 'कुरुनन्दन' कहकर अर्जुन को भगवान् ने सम्बोधन किया।] **अप्रकाशः**—अत्यन्त अविवेक [अनात्मवस्तु से आत्मवस्तु को पृथक् कर यथार्थ बोध के अनुकूल उपदेशादि प्राप्त होने पर भी बोध की (यथार्थ ज्ञान की) अयोग्यता होना अप्रकाश है—(मधुसूदन)]। (अप्रकाश विद्यमान रहते हुए किसी प्रकार से प्रकाशस्वरूप आत्मतत्व को जानने की सामर्थ्य नहीं रहती है, यही अप्रकाश शब्द से सूचित किया जाता है) **अप्रवृत्तिः च**—एवं प्रवृत्ति का अभाव [प्रवृत्ति का कारणीभूत 'अग्निहोत्रं जुहुयात्' (अग्निहोत्ररूप हवन करना चाहिए) इत्यादि कर्म विधायक शास्त्रों के उपदेश प्राप्त होने पर भी शास्त्रविहित कर्मों में प्रवृत्ति के अभाव (अनुद्यम या स्तब्ध भाव) को अप्रवृत्ति कहते हैं—(मधुसूदन)] **प्रमादः मोह एव च**—अप्रवृत्ति के कार्य प्रमाद और मोह (अविवेकरूप मूढ़ता) [जिस समय जो कर्म कर्तव्य रूप से प्राप्त होता है उसका न करना प्रमाद है अत्यन्त अविवेक

एवं शास्त्रविहित कर्म में अप्रवृत्ति होने पर ही प्रमाद उपस्थित होता है। इसलिये प्रमाद अप्रकाश एवं अप्रवृत्ति का कार्य है। निद्रा या विपर्यय का नाम मोह है। जानने के योग्य वस्तु को विपरीत भाव से जानना विपर्यय है। अतः जानने योग्य वस्तु को निद्रायुक्त व्यक्ति के समान न जानना या विपरीत भाव से जानना ही मोह है–(मधुसूदन)] ['एव' शब्द निश्चयार्थ में है अर्थात् तमोगुण उत्पन्न होने पर अप्रकाशादि का कभी व्यभिचार (अन्यथा) नहीं होता है, यही 'एव' शब्द से सूचित किया गया है। दो 'च' समुच्चय अर्थ में हैं अर्थात् अप्रकाश, अप्रवृत्ति, प्रमाद तथा मोह, ये सब एकत्रित होकर तमोगुण की वृद्धि के चिन्ह हैं दोनों 'च' शब्द यही सूचित कर रहे हैं।] **तमसि विवृद्धे एतानि जायन्ते**—तमोगुण की विशेष वृद्धि होने पर ये सब चिह्न उत्पन्न (प्रकट) होते हैं अतः इन अनिवार्य लिङ्गों (चिन्हों) के द्वारा तमोगुण वृद्धिप्राप्त हुआ है, ऐसा जानना चाहिए।

टिप्पणी–(१) श्रीधर—हे कुरुनन्दन! **अप्रकाशः**–विवेक का भ्रष्ट हो जाना **अप्रवृत्तिः**—उद्यम का अभाव **प्रमादः**–कर्तव्य कार्यों के अनुसंधान (विचार) से रहित होना **मोहः**—मिथ्या अभिनिवेश (मिथ्या अनात्मदेहादि में आत्मबुद्धि) **एतानि तमसि विवृद्धे जायन्ते**—ये सब चिह्न तमोगुण के वृद्धिप्राप्त होने पर उत्पन्न होते हैं। कहने का अभिप्राय यह है कि इन सब चिन्हों से तमोगुण की वृद्धि हुई है, ऐसा जानना चाहिए।

(२) शंकरानन्द—तमोगुण की वृद्धि को लिङ्ग (चिन्ह) कहते हैं **अप्रकाशः**—बुद्धि की स्फूर्ति का अभाव **अप्रवृत्तिः**—आलस्य **प्रमादः**—कर्तव्य में असावधानता **मोहः च** मूढ़ता। 'च' कार से निद्रा, परवशता को ग्रहण किया गया है **एतानि तमसि विवृद्धे जायन्ते**—ये सब तमोगुण की विशेष वृद्धि होने पर उत्पन्न होते हैं अर्थात् ये तमोगुण की वृद्धि चिन्ह हैं अर्थात् इनसे तमोगुण की वृद्धि एवं दूसरों का (सत्त्व तथा रज का) ह्रास (घटना) जानना चाहिए।

(३) नारायणी टीका—आवरण करना तमोगुण का स्वभाव है, विक्षेप रजोगुण का स्वभाव है एवं स्थिर होने के कारण प्रकाश करना ही सत्त्वगुण का स्वभाव है। सत्त्वगुण की वृद्धि होने पर रजः एवं तमोगुण स्वतः ही अभिभूत रहते हैं, यह दसवें

श्लोक में स्पष्ट किया गया है। अतः उसी अवस्था में तमोगुण के आवरण तथा रजोगुण के विपेक्ष से रहित सत्त्वगुण की प्रबलता से देह में सर्वइन्द्रियों के द्वारों में प्रकाश अर्थात् चित्प्रतिविम्ब (चैतन्यस्वरूप आत्मा के प्रकाश का 'प्रतिविम्ब) ग्रहण करने की सामर्थ्य उत्पन्न होती है। वह प्रकाश ही ज्ञान है क्योंकि श्रोत्र द्वारा जो शब्द सुना जाता है, त्वचा द्वारा जो स्पर्श का अनुभव होता है, चक्षु द्वारा जो रूप देखा जाता है, रसना (जीभ) द्वारा जो रस का आस्वादन किया जाता है एवं नासिका द्वारा जो घ्राण किया जाता है, इन सबके अन्दर इनके अधिष्ठानस्वरूप एक, नित्य, सत्य, पवित्र, चिद्घन, आनन्दघन, अद्वितीय अखण्ड आत्मवस्तु की उपलब्धि होती है। अतः सर्व वस्तुओं में एक आनन्द की ही तरंग उपलब्ध होती है [श्लोक में, 'उत' शब्द से इसप्रकार के आनन्द की अनुभूति भी सत्त्व गुण का लक्षण है। ऐसा सूचित किया जाता है।] अतः इन्द्रियद्वारों में जब सभी वस्तुओं के यथार्थ स्वरूप का प्रकाश एवं उसके ज्ञान तथा उसके साथ-साथ सर्वत्र आनन्द स्वरूप आत्मा की सुखमय लीला की अनुभूति होने लगती है तब देह में रजः एवं तमोगुण को दबाकर सत्त्वगुण विशेषरूप से वृद्धि को प्राप्त हुआ है। ऐसा समझना चाहिए, यही कहने का अभिप्राय है।

रजोगुण के वृद्धि प्राप्त होने पर विक्षेप उत्पन्न होता है क्योंकि रजोगुण स्वयं चंचल है। अतः जिस-जिस वृत्ति से विक्षेप की उत्पत्ति होती है वह वृत्ति रजोगुण की प्रबलता के साथ साथ प्रकट होती है। संक्षेप से वे वृत्तियाँ इस प्रकार हैं—(क) **लोभ**—जितनी ही वस्तु प्राप्त हो उसमें सन्तुष्ट न रहकर और अधिक वस्तु संग्रह करने की प्रबल इच्छा को लोभ कहते हैं। संतोष और चित्त की स्थिरता सात्त्विक गुण से प्राप्त होती है। रजोगुण उससे विपरीत होने के कारण लोभ का जनक है। (ख) **प्रवृत्ति**—सदा ही धनादि विषयों की प्राप्ति करने के लिये चेष्टा (उद्योग) को प्रवृत्ति कहते हैं। (ग) **कर्मारम्भ**—बहुचित्त, बहुपरिश्रमसाध्य गृह, उद्यान आदि के निर्माण के लिये कर्म आरम्भ करना रजोगुणी पुरुष का स्वभाव होता है। अतः (घ) **अशम**-अमुक कार्य के पश्चात् अमुक कार्य करेंगे, इसप्रकार की निरन्तर व्याकुलता को अशम कहते हैं। इस अशम (व्याकुलता) से (ङ) **स्पृहा**-अर्थात् दूसरे की वस्तु को आत्मसात् करने (अधिकार करने) की निरन्तर इच्छा रहती है। सब सत्त्व तथा

तमोगुण को अभिभूत कर जब रजोगुण विशेषभाव से वृद्धिप्राप्त होता है तभी ये सब विक्षेपकर वृत्तियाँ उत्पन्न (प्रगट) होती हैं।

तमोगुण का धर्म है आवरण करना। अतः जब तमोगुण सत्त्व एवं रजः को अभिभूत कर विशेष भाव से वृद्धि प्राप्त होता है तो (क) **अप्रकाश**—उत्पन्न होता है अर्थात् देही को (देहाभिमानी जीवात्मा को) आत्म-अनात्मरूपी विवेक-बुद्धि से रहित कर सत्पुरुष के उपदेशों के विद्यमान रहते हुए भी यथार्थ वस्तु के तत्त्व का प्रकाश करने नहीं देता है अर्थात् तत्व का अवधारण करने का सामर्थ्य का अपना आवरणशक्ति से हरण कर लेता है। सत्त्वगुण प्रकाशात्मक है एवं तमोगुण उससे पूर्णतः विपरीत अप्रकाशात्मक है—यही कहने का तात्पर्य है। (ख) **अप्रवृत्तिः च**—कर्तव्य कर्म को जान लेने पर भी उसके अनुष्ठान में अनिच्छा अर्थात् उद्यमहीनता। तमोगुण केवल आवरणात्मक है अतः वह पूर्णरूपेण जड़स्वभाव है। इसलिये उसमें विक्षेप भी नहीं है, अतः रजोगुण से भी यह सम्पूर्णतः विपरीत है क्योंकि रजोगुण से प्रवृत्ति होती है किन्तु तमोगुण से अप्रवृत्ति होती है यानी यह अप्रवृत्ति का कारण है। (ग) **प्रमाद**—क्या कर्म करना होगा, यह जानकर भी उपयुक्त समय में तमोगुणी पुरुष अपनी स्वभावसिद्ध असावधानता के कारण उस कर्म का अनुष्ठान करने में विस्मृत हो जाता है (अनुष्ठान करना भूल जाता है), इसे ही प्रमाद कहा जाता है। फिर अप्रकाश, अप्रवृत्ति और प्रमाद रहने के कारण तमोगुणी पुरुष में स्वभावतः ही (घ) **मोह**—उत्पन्न होता है। तमोगुण की आवरणशक्ति से बुद्धि का प्रकाश सदा ही आच्छादित (आवृत्त) रहने के कारण उसकी किसी विषय की अनुभूति की सामर्थ्य नहीं रहती है एवं उसकी देह भी प्रायः निद्रा से आच्छन्न होकर जड़पिण्डवत् हो जाती है। यदि बुद्धि से किसी वस्तु की उपलब्धि कर भी लेता है तो वह विपर्यय वृत्ति ही होगी अर्थात् वस्तु को बिपरीत रूप से ही ग्रहण करेगा यथार्थरूप से नहीं। तमोगुण बढ़ जाने से ऐसे ही लक्षण अज्ञानी पुरुष में प्रकट होते हैं।

अब दो श्लोकों से मरने के समय बढ़े हुए सत्त्वादि के फलविशेष बताते हैं अर्थात् मरणसमय की अवस्था के द्वारा जो फल मिलता है वह गुणों से उत्पन्न हुई आसक्ति एवं राग से ही होता है, यही दिखाने के लिये कहते हैं—

यदा सत्त्वे प्रवृद्धे तु प्रलयं याति देहभृत् ।
तदोत्तमविदां लोकानमलान्प्रतिपद्यते ॥ १४ ॥

अन्वय—यदा तु सत्त्वे प्रवृद्धे देहभृत् प्रलयं याति तदा उत्तमविदां अमलान् लोकान् प्रतिपद्यते ।

अनुवाद—जिस समय सत्त्वगुण की विशेष रूप से वृद्धि होती है उस समय यदि देहधारी जीव मरण को प्राप्त होता है तो वह उत्तम [हिरण्यगर्भादि के] वेत्ताओं (उपासकों) के अमल (रजोगुण तथा तमोगुणरूप मल से रहित) लोकों को प्राप्त होता है ।

भाष्यदीपिका—**यदा तु**—किन्तु जिस समय में [रज और तम से जो गति प्राप्त होती है उससे सत्त्वगुण की गति पृथक् है यह सूचित करने के लिये ही 'तु' शब्द का प्रयोग हुआ है ।] **सत्त्वे प्रवृद्धे**—सत्त्वगुण प्रकृष्टरूप (विशेष भाव) से वृद्धि को प्राप्त होता है । **देहभृत्**—देहाभिमानी जीवात्मा **प्रलयं याति**—देह त्याग कर मृत्यु को प्राप्त होता है । **तदा**—तब **उत्तमविदां**—उत्तम तत्त्व को जानने वालों के अर्थात् महत्तत्त्वादि से लेकर अणु तक सभी पदार्थों का तत्त्वज्ञान जिन्होंने प्राप्त किया है उनके अथवा उत्तम (जो हिरण्यगर्भादि हैं उनके) वेत्ताओं (उपासकों) के **अमलान् लोकान्**—निर्मल (रजोगुण तथा तमोगुणरूपी मल से रहित) लोकों को [वेदप्रमाणित हिरण्यगर्भादि के ब्रह्मलोकादि को अथवा देवताओं के सुख उपभोग के स्थान विशेषों को] **प्रतिपद्यते**—प्राप्त होता है । कहने का अभिप्राय यह है कि सत्त्वगुण की वृद्धि के समय यदि कोई देहाभिमानी जीव देहत्याग करे तो वह भी हिरण्यगर्भादि के पुण्य लोकों को प्राप्त होता है ।

टिप्पणी—(१) **श्रीधर**—केवल मृत्युकाल में ही यदि सत्त्वादि गुणों की वृद्धि होती है तब उन गुणों का अलग-अलग फल कैसे होता है ? यह अब दो श्लोकों द्वारा बताते हैं—**यदा सत्त्वे प्रवृद्धे तु इत्यादि**—जिस समय सत्त्वगुण की विशेष रूप से वृद्धि होती है, उस समय यदि जीव मृत्यु को प्राप्त होता है, तो जो हिरण्यगर्भादि उत्तम देवों की उपासना करने वाले हैं तथा उन उत्तमों के वेत्ता हैं उनके निर्मल (प्रकाशमय) लोकों को (सुख उपभोग करने के अनुकूल स्थानों को) प्राप्त होता है ।

(२) **शंकरानन्द**—गुणों के सम्बन्ध के अनुसार ही मृत पुरुषों की पारलौकिकगति होती है-वर्णाश्रमादि के अनुसार नहीं। अतः मरने के पश्चात् जो गति प्राप्त होती है उसमें गुण ही कारण है, ऐसा बतलाते हैं-**यदा तु**—['तु' शब्द तम और रज की व्यावृति के लिये (पृथक् करने के लिये) है] (किन्तु) जिस समय **सत्त्वे प्रवृद्धे देहभृत् प्रलयं याति**—सत्त्वगुण की विशेष वृद्धि होती है उस समय यदि प्राणी मरता है **तदा उत्तमविदां अमलान् लोकान् प्रतिपद्यते**—तब वह उत्तमविदों के द्वारा प्राप्तव्य जन्म, जरा आदि दुःख रूप मलों से रहित हिरण्यगर्भादि लोकों को प्राप्त करता है [हिरण्यगर्भादि उत्तम है और उनकी जो उपासना करते हैं वे उत्तम विद हैं। यदि शंका हो कि 'यत्कर्म कुरुते तदभिसम्पद्यते' (जैसा कर्म करता है ऐसा ही फलभोग करता है) इस श्रुति वचन से पुण्य और पापरूप कर्म के अनुसार जीव को परलोक की प्राप्ति होती है, फिर अब श्रुतिविरुद्ध गुणों के अनुसार परलोक की गति होती है, यह कैसे कहते हैं ? इस पर कहते हैं कि यद्यपि ऐसा कहना ठीक है क्योंकि प्राणियों के अपने-अपने कर्मों के अनुसार ही शुभ तथा अशुभ गति होती है-वर्णाश्रम के अनुसार अथवा पाण्डित्य के अनुसार नहीं होती तथापि प्राणियों के मृत्युकाल में पिछले जन्मों के पुण्य-पापरूप कर्मों से ही सत्त्वादि गुणों का उत्कर्ष होता है एवं उसके अनुसार ही ब्रह्मादि लोकों की प्राप्ति होती है। अतः पूर्वोक्त श्रुति-वाक्य से इसका कोई विरोध नहीं है एवं श्रुति में जो कहा है उससे भी विरोध नहीं है, यह सिद्ध हुआ।

(३) **नारायणी टीका**—श्रुति में कहा है "स यथाकामो भवति तत्क्रतुर्भवति यत्क्रतुर्भवति तत्कर्म कुरुते यत्कर्म कुरुते तदभिसम्पद्यते" अर्थात् (मनुष्य) जिस प्रकार किसी वस्तु की प्राप्ति के लिये कामनावान होता है उसी प्रकार संकल्प का दृढ़ निश्चय होता है, जैसा निश्चय होता है उसी के अनुसार कर्म करता है, जैसा कर्म करता है उसी के अनुसार फल भोगता है। मनुष्य का काम, क्रतु तथा कर्म अपने-अपने स्वाभाविक गुणानुसार ही होता है। अतः गुण के अनुसार ही फल या गतिप्राप्त होती है गुण से कर्म, कर्म से संस्कार कर्मफलरूप से उत्पन्न होता है एवं संस्कार से फिर कर्म एवं कर्म से कर्मफल। इस प्रकार संस्कार से विशेष-विशेष गुणों की वृद्धि तथा

गुणों से फिर कर्म, अकर्म अथवा विकर्म का आरम्भ होता है एवं जिस प्रकार कर्म होता है उसी प्रकार फल भी भोगना पड़ता है। इस प्रकार बीज अंकुरवत् तब तक चक्र चलता रहता है जबतक कि तत्त्वज्ञान को प्राप्त कर जीव अपने गुणातीत स्वरूप का अनुभव नहीं कर लेता है। मृत्युकाल में भी जो विशेष-विशेष गुण की प्रकृष्टरूप से वृद्धि दिखाई जाती है, वह भी कर्मों के अनुसार (इहजन्म या पूर्वजन्म के कर्म के अनुसार) ही होती है, तथापि मृत्युकाल में जिस-जिस गुण की वृद्धि दृष्ट होती है वह परलोक में अच्छी या बुरी गति का परिचायक होती है अर्थात् उससे जाना जाता है कि परलोक में किस प्रकार की गति को जीवात्मा प्राप्त होगा। सत्त्वगुण के विशेषरूप से वर्धित होने पर यदि जीव की मृत्यु होती है तो वह उत्तमविदों के सबसे श्रेष्ठ जो हिरण्यगर्भ हैं उनके जानने वाले (उपासक) से प्राप्त होने वाले जो अमल अर्थात् रज तथा तमरूपी मल से वर्जित (सर्वदुःखरहित) लोक हैं उन दिव्य लोकों को प्राप्त करता है। कहने का अभिप्राय यह है कि जब सत्त्वगुण प्रबलरूप से प्रकट होता है, उस समय यदि कोई देहत्याग करे तो वह निर्मल, पवित्र, दुःख से रहित, अत्यन्त सुख के भोग करने के अनुकूल स्थान को प्राप्त होता है। सत्त्वगुण का यही अपूर्व फल है।

[अब रज एवं तमोगुण की वृद्धि के समय देहत्याग करने पर क्या विशेषफल प्राप्त होता है ? उसे कहते हैं—]

रजसि प्रलयं गत्वा कर्मसङ्गिषु जायते।
तथा प्रलीनस्तमसि मूढयोनिषु जायते॥ १५॥

अन्वय—रजसि (प्रवृद्धे) प्रलयं गत्वा (देहभृत्) कर्मसङ्गिषु जायते तथा तमसि (प्रवृद्धे) प्रलीनः (देहभृत्) मूढयोनिषु जायते।

अनुवाद—रजोगुण की वृद्धि के समय मृत्यु को प्राप्त होने पर वह कर्मासक्त जीवों में (मनुष्य लोक में) उत्पन्न होता है और तमोगुण की वृद्धि के समय मरने पर मूढ़योनियों में (पशु, पक्षी इत्यादि निकृष्ट योनियों में) जन्म लेता है।

भाष्यदीपिका—**रजसि (प्रवृद्धे) प्रलयं गत्वा (देहभृत्)**—रजोगुण की वृद्धि के समय जब वह देहधारी जीव मृत्यु को प्राप्त होता है तब **कर्मसङ्गिषु**

जायते—वह कर्मसङ्गियों में अर्थात् कर्म में आसक्त हुए मनुष्यों में [श्रुति और स्मृति द्वारा विहित एवं निषिद्ध कर्मफलों के अधिकारी मनुष्यों में—(मधुसूदन)] जन्म लेता है **तथा**—ओर ऐसे ही अर्थात् जिसप्रकार सत्त्वगुण की वृद्धि के समय देहत्याग करने पर ब्रह्मलोक या देवयोनि में जीव का जन्म होता है अथवा रजोगुण की वृद्धि के समय मरने पर वह मनुष्यलोक में जन्म लेता है, उसीप्रकार **तमसि(प्रवृद्धे) प्रलीनः (देहभृत्)**—तमोगुण का विशेष वृद्धि के समय जीव प्रलीन होने पर अर्थात् मृत्यु को प्राप्त होने पर **मूढयोनिषु जायते**—मूढ़योनियों में अर्थात् पशु आदि योनियों में उत्पन्न होता है।

टिप्पणी (१) श्रीधर—रजसि प्रलयं गत्वा इत्यादि—रजोगुण की वृद्धि के समय मृत्यु को प्राप्त होने पर देहाभिमानी जीव कर्मों में आसक्ति रखने वाले मनुष्यों में जन्म लेता है **तथा तमसि प्रलीनः मूढयोनिषु जायते**—उसीप्रकार तमोगुण की वृद्धि के समय जो मनुष्य मृत्यु को प्राप्त होता है वह पशु आदि मूढ़-योनियों में जन्म लेता है।

(२) शंकरानन्द—रज और तम का उत्कर्ष (वृद्धि) होने पर जो पुरुष मृत्यु को प्राप्त होता है, उसकी क्या गति होती है ? उसे कहते हैं। **रजसि प्रलयं गत्वा कर्मसङ्गिषु जायते**—रजोगुण की वृद्धि होने पर देहधारी प्राणी यदि प्रलय (मृत्यु) को प्राप्त हो जाय तो वह रजोगुण की वृद्धि के वेग से भी फिर कर्मों के सङ्ग [(कर्मयोग) से युक्त मनुष्ययोनि] में जन्म लेता है **तथा तमसि प्रलीनः मूढयोनिषु जायते**—उसी प्रकार तमोगुण की वृद्धि के समय मृत्यु को प्राप्त हुआ प्राणी तम की वृद्धि के वेग से पशु आदि मूढ़ योनियों में उत्पन्न होता है।

(३) नारायणी टीका—सत्त्वगुण की वृद्धि की अवस्था में मृत्यु होने पर सत्त्वगुणसम्पन्न हिरण्यगर्भादि देवता लोग जिन उत्तम सुख भोगों के अनुकूल लोकों में वास करते हैं उन लोकों को प्राप्त होता है अर्थात् लोकों (ब्रह्मलोक, स्वर्गलोक इत्यादि को) प्राप्त होता है। रजोगुण की वृद्धि होने पर विक्षेप या चंचलता उत्पन्न होता है, यह पहले ही कह चुके हैं। कर्म में प्रवृत्ति रजोगुण से होती है एवं मनुष्य में ही कर्मों में सङ्ग (कर्म में प्रवृत्ति) अधिकतर देखा जाता है। अतः रजोगुण की वृद्धि के समय

यदि कोई मृत्यु को प्राप्त हो जाय तो उसको मनुष्य लोक में ही जन्म लेना पड़ता है। तमोगुण आवरणात्मक है अर्थात् विवेकज्ञान को हरण करनेवाला है अर्थात् विवेकज्ञान को हरण करके मूढ़ता उत्पन्न करता है। अतः तमोगुण की वृद्धि के समय मृत्यु होने पर विवेकज्ञानहीन मूढ़ पशु आदि की योनियों में जन्म लेना पड़ता है, यही कहने का तात्पर्य है।

[अब पहले कहे हुए श्लोकों के अर्थ का सार कहा जाता है—]

कर्मणः सुकृतस्याहुः सात्त्विकं निर्मलं फलम् ।
रजसस्तु फलं दुःखमज्ञानं तमसः फलम् ॥ १६ ॥

अन्वय—सुकृतस्य कर्मणः निर्मलं सात्त्विकं फलम्, रजसः तु दुःखम् फलम्, तमसः अज्ञानम् फलम् आहुः ।

अनुवाद—महर्षियों ने सुकृत अर्थात् सात्त्विक कर्म का सात्त्विक और निर्मल फल बताया है तथा राजस कर्म का फल दुःख एवं तामस कर्म का फल अज्ञान बताया है।

भाष्यदीपिका—सुकृतस्य कर्मणः—शुभकर्म का अर्थात् सात्त्विक कर्म का [सात्त्विक गुण के बिना कर्म सुकृत (पुण्यकर्म) हो नहीं सकता, अतः सुकृत कर्म का अर्थ है धर्म या पुण्य अर्थात् सात्त्विक कर्म] **निर्मलं सात्त्विकं फलम् आहुः**—सात्त्विक (सत्त्वगुण से होनेवाला) तथा निर्मल अर्थात् रजोगुण एवं तमोगुण से बिना मिला हुआ फल (सुख) महर्षियों ने बताया है **रजसः तु दुःखम् फलम्**—तथा राजस कर्म का फल दुःख बतलाया है क्योंकि कार्य कारण के ही अनुरूप हुआ करता है अतः कर्माधिकार से राजसकर्म का फल भी अपने कारण के अनुसार दुःख ही होगा। [राजस (अर्थात् पापमिश्रित पुण्य) कर्म का फल राजस दुःख अर्थात् दुःख की अधिकता से युक्त अल्पसुख बताया है क्योंकि कारण के अनुरूप ही कार्य होता है—(मधुसूदन)] **तमसः अज्ञानम् फलम्**—और ऐसे ही तामसरूप अधर्म का (पापकर्म का) फल अज्ञान बताया है। ['आहुः' (बताया है), इस क्रियापद का सर्वत्र सम्बन्ध है], [सात्त्विकादि कर्मों के लक्षण तो 'नियतं सङ्गरहितम्' इत्यादि

श्लोकों से अठारहवें अध्याय में कहे जायँगे। जिस प्रकार 'गोभिः श्रीणीत मत्सरम्' (गौ के दूध में सोम को मिलाओ) इस वाक्य में 'गौ' शब्द का गौ से होने वाले दूध के अर्थ में और 'धान्यमसि धिनुहि देवान्' (तुम चावल हो, देवताओं को तृप्त करो) इस वाक्य में 'धान्य' शब्द का उससे होने वाले चावल के अर्थ में प्रयोग हुआ है (क्योंकि कार्य और कारण में अभेद का उपचार किया जाता है) उसी तरह यहाँ 'रजः' और 'तमः' शब्दों का अनेक कार्यभूत कर्मों में प्रयोग हुआ है, क्योंकि वहाँ दूध और चावल के समान यहाँ भी कर्म का ही प्रसंग है (मधुसूदन)।]

टिप्पणी (१) श्रीधर—अत्र सत्त्वादि गुण अपने अनुरूप कर्म द्वारा भिन्न-भिन्न फलों में हेतु होते हैं, यह बताया जाता है—**सुकृतस्य कर्मणः सात्त्विकं निर्मलं फलम् आहुः**—सुकृत (सात्त्विक) कर्म का फल सात्त्विक (सत्त्वगुण प्रधान) तथा निर्मल प्रकाश की अधिकता से युक्त सुखरूप फल है—ऐसा कपिलादि मुनियोंने बताया है। **रजसः तु दुःखम् फलम्**—तथा रजोगुण (राजस कर्म) का फल दुःख बताते हैं। कर्मफल के कथन का प्रकरण होने के कारण यहाँ रजोगुण शब्द का अर्थ राजसकर्म ही है। **तमसः अज्ञानम् फलम्**—तमोगुण अर्थात् तामस कर्म का फल अज्ञान (मूढ़ता) बताते हैं। सात्त्विकादि कर्मों के लक्षण अठारहवें अध्याय में 'नियतं सङ्गरहितम्' (गीता १८।२३) इत्यादि श्लोकों में बतलायेंगे।

(२) शंकरानन्द—इसप्रकार गुणों का स्वरूप, बन्धकत्व उनकी वृद्धि और वृद्धि के कार्यों का प्रतिपादन करके सत्त्वादि गुण प्रधान (प्रबल) होने से जो कर्म होता है उसके फल का वर्णन करते हैं। **सुकृतस्य कर्मणः**—शम, दम, श्रद्धादि सत्त्वगुण की सम्पत्ति से तथा ईश्वरार्पण बुद्धि से सम्यक् प्रकार अनुष्ठित सात्त्विक कर्म का **सात्त्विकं निर्मलं फलम्**—सात्त्विक अर्थात् सत्त्वगुण से वृद्धिप्राप्त तथा निर्मल फल है। अर्थात् गुणों की विषमता से उत्पन्न हुआ जो दुःखरूपी मल है इससे रहित ब्राह्म या वैष्णव सुख ही सात्त्वक कर्म का फल है [ब्राह्म और वैष्णव में (ब्रह्मलोक और विष्णुलोक में) प्राप्त करने के योग्य सुख ही फल है] **आहुः**—ऐसा मुनि लोग कहते हैं **रजसः तु दुःखम् फलम्**—राजस अर्थात् रजोगुण जिसमें प्रधान (प्रबल) रहता है उस रजोगुण से युक्त काम, संकल्पादि के सहित सम्यक् प्रकार (भली भांति)

अनुष्ठित कर्म का दुःख (आना जाना, संताप आदि दुःख जिसमें प्रचुर रहता है, ऐसा स्वर्ग सुखरूप) फल होता है, ऐसा कहते हैं। **तमसः अज्ञानम् फलम्**—तमोगुण से निष्पन्न (अर्थात् विधि, नियम एवं श्रद्धा से शून्य तामस) कर्म का तो अज्ञान (भोक्ता, भोग्य गुण तथा रस के ज्ञान से रहित निद्रामय सुख) फल है, ऐसा मुनि लोग कहते हैं।

(३) नारायणी टीका—यद्यपि जगत् प्रपंच में जो कुछ कार्य हो रहा है उसमें सत्त्व, रज और तम, इन तीनों गुणों का मिश्रण रहता है तथापि एक गुण जब विशेष भाव से प्रबल होता है तब अन्य दोनों गुण इस प्रकार दबे हुए रहते हैं मानो कि वे कोई कार्य नहीं कर रहे हैं—ऐसा प्रतीत होता है। सत्त्वगुण प्रबल होने से निष्काम पुण्यकर्म में रुचि होती है, रजोगुण प्रबल होने पर पाप या पुण्यरूप जो कर्म किया जाता है उसमें काम, आसक्ति, लोभ, इत्यादि रहते हैं अतः वह अत्यन्त मलिन या तो मलिनता से मिश्रित होता है। तमोगुण प्रबल होने पर पाप पुण्य की कोई विचार शक्ति नहीं रहती है अर्थात् बुद्धि मूढ़त्व से आच्छन्न होती है। निष्काम पुण्यकर्म को सुकृत कहते हैं। वह कर्म सु अर्थात् उत्तम है क्योंकि उससे चित्त शुद्ध होकर आत्मा का साक्षात्कार करने में समर्थ होता है अतः सुकृत कर्म का फल भी सात्त्विक ही होगा एवं सात्त्विक होने के कारण वह फल निर्मल होगा [अर्थात् रज तथा तमोगुण के मल से रहित, वस्तु के यथार्थ स्वरूप को प्रकाशित करने वाला, अनामय अर्थात् सर्वप्रकार से उपद्रव रहित एवं सुखदायक होगा (गीता १४।६) द्रष्टव्य]

राजसिक कर्म में कामना तथा आसक्ति रहने के कारण लोभ, प्रवृत्ति, संकल्प विकल्प का अनुपशम तथा स्पृहा आदि रहने के कारण राजसिक कर्म में चित्त सदा ही विक्षेप युक्त रहेगा। अतः इस प्रकार अशान्त चित्त में सुख कैसे उत्पन्न हो सकता है? (गीता २।६६ द्रष्टव्य) अतः राजसिक कर्म के फल में कभी कभी अल्प क्षणिक सुख होने पर भी दुःख का बाहुल्य (अधिकता) ही रहेगा अर्थात् प्रायः दुःखरूप ही होता है।

तमोगुण का कार्य निद्रा, आलस्य, प्रमाद है। अतः तामसिक कर्म में विचार (विवेक) न रहने के कारण उसका फल अज्ञान (मूढ़ता) ही रहता है अर्थात् कौन सच्चा सुख है या दुःख, इसका बोध भी तामसिक कर्मों को नहीं रहता है।

[गुणों से क्या उत्पन्न होता है ? इसपर कहते हैं—]

सत्त्वात्संजायते ज्ञानं रजसो लोभ एव च ।
प्रमादमोहौ तमसो भवतोऽज्ञानमेव च ॥ १७ ॥

अन्वय—सत्त्वात् ज्ञानम् संजायते रजसः लोभः एव च (संजायते), तमसः प्रमादमोहौ भवतः अज्ञानम् एव च (भवति)।

अनुवाद—सत्त्वगुण से ज्ञान उत्पन्न होता है, रजोगुण से लोभ होता है और तमोगुण से प्रमाद, मोह एवं अज्ञान की ही उत्पत्ति होती है।

भाष्यदीपिका—**सत्त्वात्**—सत्त्वगुण जिस समय लब्धात्मक होता है अर्थात् प्रवृद्ध (प्रकृष्टरूप से वृद्धि को प्राप्त) होता है तब उससे **ज्ञानम् संजायते**—ज्ञान सम्यक् प्रकार से उत्पन्न होता है [अतः प्रकाशबाहुल्य सुख सात्त्विकगुण का फल होता है (श्रीधर)। फिर अन्तःकरण की निर्मलता के कारण श्रोत्रादि समस्त इन्द्रियद्वारों से वस्तुओं के जो यथार्थ स्वरूप का प्रकाश उपलब्ध होता है वही यहाँ 'ज्ञान' नाम से कहा गया है। यह ज्ञान सत्वगुण की विशेषरूप से वृद्धि होने पर ही उत्पन्न होता है। अतः सात्त्विक कर्म में प्रकाश का बाहुल्य (ज्ञान का आधिक्य) रहने के कारण सात्त्विक कर्मों से सुखरूप फल प्राप्त होता है (मधुसूदन)] **रजसः लोभः एव च संजायते**—रजोगुण से लोभ ही उत्पन्न होता है [लोभमात्र ही दुःखका हेतु है। अतः लोभपूर्वक किये गये कर्मों का फल भी दुःख ही होगा (श्रीधर)। करोड़ों विषयों के मिलने पर पर भी जिसकी निवृत्ति नहीं होती है ऐसी इच्छाविशेष का नाम लोभ है। इस लोभ का रजोगुण से जन्म होता है एवं निरन्तर बढ़ते रहने के कारण इसकी पूर्ति करना सम्भव न होने से तथा सब प्रकार से दुखों का कारण होने से लोभपूर्वक किये गये राजस कर्मों का फल दुःख ही होता है क्योंकि लोभ कभी भी पूर्णतया तृप्त नहीं हो सकता।—(मधुसूदन)] **तमसः प्रमादमोहौ भवतः अज्ञानम् एव च (भवति)**—तमोगुण से प्रमाद और मोह, ये दोनों होते हैं तथा अज्ञान भी होता है। [अतः तामस कर्म के फलरूप से प्रमाद, मोह एवं अज्ञान का आधिक्य रहेगा ही (श्रीधर)] ज्ञान शब्द का अर्थ है प्रकाश, अतः अज्ञान शब्द का अर्थ है अप्रकाश या विवेक का अभाव। 'एव' शब्द

सत्त्वगुण के कार्य प्रकाश तथा रजोगुण के कार्य प्रवृत्ति, इनदोनों की व्यावृत्ति (निवारण) करने के लिये है अर्थात् तामसगुण से कभी प्रकाश (ज्ञान) एवं प्रवृत्ति (कर्म में उद्यम) उत्पन्न नहीं होंगे, यह 'एव' शब्द से सूचित किया गया है। [प्रमाद तथा मोह शब्दों की व्याख्यायें इस अध्याय के तेरहवें श्लोक की व्याख्या में स्पष्ट की गई हैं।]

टिप्पणी (१)-श्रीधर—पूर्ववर्त्ती श्लोक में कहे गये फलों के निश्चित हेतु बताते हैं—**सत्त्वात् संजायते ज्ञानम्**—सत्त्वगुण से ज्ञान उत्पन्न होता है। अतः सात्त्विक कर्म का फल प्रकाश के बाहुल्य से युक्त एवं सुखरूप होता है। **रजसः लोभः एव च**—रजोगुण से लोभ उत्पन्न होता है। लोभ दुःख का हेतु होने के कारण उससे युक्त कर्म का फल भी दुःख ही होता है। **तमसः प्रमादमोहौ भवतः अज्ञानम् एव च (भवति)**—तमोगुण से प्रमाद, मोह एवं अज्ञान उत्पन्न होते हैं। अतः तामस कर्म का जो फल होता है वह अज्ञान की उत्पत्ति करने वाला ही होता है। कहने का अभिप्राय यह है कि इन गुणों का उक्त प्रकार से फल होना उचित ही है।

(२) शंकरानन्द—कार्य से कारण का ज्ञान कराने के लिये सत्त्वादि गुणों के दूसरे कार्य बताते हैं—**सत्त्वात् ज्ञानम् संजायते**—सत्त्वगुण के आविर्भाव से ज्ञान अर्थात् कार्य एवं अकार्य का विवेकज्ञान उत्पन्न होता है **रजसः लोभः एव च**—रजोगुण के आविर्भाव से (प्रवृद्ध होने पर) लोभ (विषयों की तृष्णा) उत्पन्न होता है। **तमसः प्रमादमोहौ भवतः अज्ञानम् एव च (भवति)**—तमोगुण के आविर्भाव से प्रमाद एवं मोह उत्पन्न होते हैं, तथा अज्ञान (बुद्धि की जड़ता) अतः 'इति कर्तव्यता' (यह मेरा कर्तव्य है) इसप्रकार की बुद्धि का अभाव उत्पन्न होता है।

(३) नारायणी टीका—गुणों का फल दूसरे प्रकार से कह रहे हैं—सत्त्वगुण से ज्ञान उत्पन्न होता है, ज्ञान और प्रकाश पर्यायवाची शब्द हैं। प्रकाश का स्वभाव है आवरणभंग करना। अतः सत्त्वगुण से अर्थात् सत्त्वगुण को अत्यन्त वृद्धि होने से जो ज्ञान या प्रकाश स्वतः ही प्रकट होता है वह आत्मा के नाम, रूप तथा क्रियात्मक आवरण को भंग कर आत्मस्वरूप का अनुभव कराने में सहायक होता है। आत्मा सुखस्वरूप है तथा एक, अखण्ड पूर्णरूप होने के कारण वह अनामय (उपद्रव तथा भयरहित अर्थात् अभय पद) है क्योंकि दो रहने से ही भय रहता है। एक ही सत्ता

होने पर किससे किसको भय होगा ? अतः सत्त्वगुण की वृद्धि होने पर ज्ञान के साथ-साथ प्रकाश, अभय, मिथ्या जगतप्रपंच में वैराग्य एवं आत्मतत्त्व के दर्शन से परम-सुख भी प्राप्त होता है।

रजोगुण से लोभ, (विषयतृष्णा) बढ़ जाता है एवं लोभ के कारण कर्म में प्रवृत्ति, चित्त में विक्षेप एवं उसके फलस्वरूप सुख का अभाव अर्थात् उसके फलरूप से दुःख ही प्राप्त होता है।

वस्तु के स्वरूप पर आवरण कर देना तमोगुण का धर्म है एवं आवरण के कारण केवल मोह (मूढ़ता) एवं अज्ञान (आत्मवस्तु के ज्ञान का अभाव) ही उसके फलरूप से प्राप्त होता है।

[अब सात्त्विकादि आचरणों में स्थित व्यक्तियों की मृत्यु के पश्चात् जो मिलने वाले फलों का वर्णन किया गया है उनकी उत्तम, मध्यम और जघन्य) (ऊँची, बीच की और नीची) स्थिति का वर्णन करते हैं—]

ऊर्ध्वं गच्छन्ति सत्त्वस्था मध्ये तिष्ठन्ति राजसाः।
जघन्यगुणवृत्तिस्था अधो गच्छन्ति तामसाः ॥ १८ ॥

अन्वय—सत्त्वस्थाः ऊर्ध्वं गच्छन्ति, राजसाः मध्ये तिष्ठन्ति, जघन्यगुणवृत्तिस्थाः तामसाः अधः गच्छन्ति।

अनुवाद—सत्त्वगुण में स्थित लोग ऊर्ध्व (ऊँचे) लोक में जाते हैं, रजोगुणी मध्यलोक में रहते हैं एवं जघन्य गुण (निन्दनीय तमोगुण) के आचरणों में स्थित हुए तमोगुणी लोग नीचे गिरते हैं।

भाष्यदीपिका—सत्वस्थाः ऊर्ध्वं गच्छन्ति—सत्त्वगुण में अर्थात् सात्विक भावों में स्थित हुए पुरुष ऊर्ध्वस्थान उर्ध्वस्थान (उच्चस्थान) को जाते हैं अर्थात् देवता आदि के ऊँचे लोकों में जन्म लेते हैं। सात्विक आचरण अर्थात् शास्त्रीय ज्ञान एवं कर्म में निष्ठावान् पुरूष ऊपर के लोक में (सत्यलोक पर्यन्त देवलोक में) जाते हैं। वे ज्ञान एवं कर्म के तारतम्य से भिन्न-भिन्न देवताओं में के रूपों में उत्पन्न होते हैं **राजसाः मध्ये तिष्ठन्ति**—राजस पुरूष बीच में रहते हैं अर्थात् मनुष्य योनि में

उत्पन्न होते हैं [राजस अर्थात् रजोगुण के आचरण (लोभादि पूर्वक राजस कर्म) करते हुए पुरुष मध्य में (पुण्य और पाप से मिले हुए मनुष्यलोक में) रहते हैं। वे न तो ऊपर की ओर जाते हैं न नीचे को अर्थात् मनुष्य देहका त्यागकर मनुष्ययोनि में ही फिर उत्पन्न होते हैं (मधुसूदन)] **जघन्यगुणवृत्तिस्थाः तामसाः अधः गच्छन्ति**—तथा जघन्यगुणों के निन्दनीय आचरण में स्थित हुए अर्थात् तमोगुण के कार्य निद्रा एवं आलस्यादि में स्थित हुए तामसी मूढ़ पुरुष नीचे गिरते हैं अर्थात् पशु, पक्षी आदि योनियों में उत्पन्न होते हैं। [जघन्य जो गुण (तमोगुण) है उसकी वृत्ति में (अर्थात् प्रमाद, मोह, निद्रा आलस्यादि में,) सर्वदा जो स्थित रहते हैं वे 'जघन्यवृत्तिस्थ' हैं। वे सदा ही तमःप्रधान अर्थात् कर्तव्याकर्तव्यविषयों में विवेकहीन होते हैं। इसलिये इनको तामस कहा जाता है। कभी-कभी तमोगुण के आचरण में स्थित पुरुष भी सात्त्विक एवं राजसिक प्रकृति से सम्पन्न हो सकते हैं किन्तु वे अधोगति को प्राप्त नहीं होते हैं क्योंकि वे ठीक ठीक तमःप्रधान नहीं हैं, यही 'तामस' शब्द का तात्पर्य है।

टिप्पणी—(१) **श्रीधर**—अब सात्त्विक, राजसिक एवं तामसिक वृत्ति वालों को मिलने वाले फलों में जो भेद होता है उसे बताते हैं—**सत्त्वस्थाः ऊर्ध्वं गच्छन्ति**—सत्त्वगुण में स्थित अर्थात् जिनमें सात्त्विकवृत्ति प्रधान (प्रबल) रहती है वे लोग ऊपर के लोकों को प्राप्त होते हैं। तात्पर्य यह है कि सत्त्वगुण के उत्कर्ष में कमी-वेशी होने के कारण उत्तरोत्तर शतगुण अधिक आनन्द वाले मनुष्य, गन्धर्व पितृलोक और सत्यलोक पर्यन्त देवादि के लोकों को प्राप्त होते हैं **राजसाः मध्ये तिष्ठन्ति**—तृष्णा आदि से आकुल राजस (रजोगुण सम्पन्न मनुष्य) बीच में रहते हैं अर्थात् शरीर के त्याग के पश्चात् वे मनुष्यलोक में ही उत्पन्न होते हैं। **जघन्यगुण-वृत्तिस्थाः तामसाः अधः गच्छन्ति**—अतिनिकृष्ट जो तमोगुण है उसकी वृत्तियाँ हैं प्रमाद, मोह आदि। उसमें स्थित हुए लोग नीच योनियों को प्राप्त होते हैं। तमोगुण की कमी-वेशी होने के कारण तामिस्र आदि नरकों में उत्पन्न होते हैं अर्थात् तमोगुण यदि अत्यधिक रहे तो घोरतम नारकीय योनियों में गिरते हैं और यदि उससे कम रहे तो उसी के अनुसार कम। यन्त्रणादायक योनियों में उत्पन्न होते हैं।

(२) **शंकरानन्द**—गुणों के ज्ञानादि कार्यों को कहकर अब सत्त्वादि गुणों में निष्ठा रखने वाले पुरुषों की गति कहते हैं–**सत्त्वस्थाः ऊर्ध्वं गच्छन्ति**—सत्त्वस्थ [सात्त्विक कर्मों में जो स्थित रहते हैं अर्थात् मोक्ष की इच्छा से सत्त्वगुण से उत्पन्न हुए सत् एवं असत् के विवेकज्ञान में तथा ज्ञान के कार्यभूत परमेश्वर की उपासनादि में जो स्थित रहते हैं, ऐसे पुरुष] ऊर्ध्व लोकों में अर्थात् ब्रह्मा, विष्णु आदि के स्थानों में जाते हैं। **राजसाः मध्ये तिष्ठन्ति**—रजोगुण से उत्पन्न हुए काम, संकल्पादि गुणों से युक्त ज्ञान में तथा उस ज्ञान के कार्य जो श्रौतादि (वेद-विहित आदि) कर्म हैं उनमें भोग की इच्छा से जो स्थित होते हैं वे राजस हैं। इस प्रकार राजस पुरुष मध्य में अर्थात् ब्रह्मलोक एवं सर्पादि तिर्यक्-लोकों के बीच में आवागमन करते हुए देवलोक और मनुष्यलोक में स्थित रहते हैं अर्थात् वे न तो उच्चतम योनि को प्राप्त करते हैं और न ही अतिनीच योनि। **जघन्यगुणवृत्तिस्थाः तामसाः अधः गच्छन्ति**—जघन्य (निकृष्ट) जो तमोगुण है उसकी वृत्ति में (सद्-असद् विवेक वर्जित तमःप्रधान ज्ञान में या कर्म में) जो स्थित रहता है वह जघन्यगुण की वृत्ति में स्थित तामस पुरुष कर्त्तव्याकर्त्तव्य के विवेकज्ञान से रहित होकर अधोलोक में (नीची पशु, सर्पादि तिर्यक् योनियों में) जाते हैं (बार-बार जन्म लेते हैं)।

(३) **नारायणी टीका**—सात्त्विक, राजसिक एवं तामसिक पुरुषों की गति में तारतम्य किस प्रकार होता है ? उसे कहते हैं–जो सत्त्वप्रधान हैं अर्थात् जिनमें सत्त्वगुण प्रबल है अर्थात् जो शास्त्रीय ज्ञान या कर्म में सदा निरत रहते हैं, वे सत्त्वगुण की उत्कर्षता के तारतम्य के अनुसार गन्धर्व, पितृ, देवादि सत्यलोक पर्यन्त लोकों में उत्पन्न होते हैं (जन्म लेते हैं) और जो लोग राजसिक प्रकृति से सम्पन्न हैं अर्थात् सदा ही विषयतृष्णा आदि से आकुल रहते हैं वे पाप पुण्य से मिश्रित कर्मों का अनुष्ठान करने के कारण बीच में अर्थात् फिर मनुष्यलोक में ही उत्पन्न होते हैं। 'जघन्यगुणवृत्तिस्थाः तामसाः अधः गच्छन्ति'–जघन्य (निकृष्ट) जो तमोगुण है एवं उसकी वृत्ति में (निद्रा, आलस्य, प्रमाद, अज्ञान में) जो निरन्तर स्थित रहते हैं, वे तामसिक मनुष्य नरक में गमन करते हैं अथवा पशु आदि योनियों में जन्म लेते हैं।

गुणों में रहने से ही उच्च, मध्यम, अधम योनियों में आवागमन चलता रहेगा परन्तु जीव निरन्तर श्रद्धापूर्वक परमेश्वर का भजन करके आत्मसाक्षात्कार करने पर ज्ञानी गुणातीत परमब्रह्म के साथ एक होकर स्वयं गुणातीत ही हो जाता है, यही कहने का अभिप्राय है।

[चतुर्दश अध्याय में कहने के लिये तीन बातें प्रस्तुत हैं। (१) (१३।२६) वें श्लोक में कहा गया है कि स्थावरजङ्गमात्मक जो कुछ वस्तुएँ हैं वे सभी क्षेत्र तथा क्षेत्रज्ञ के संयोग से ही उत्पन्न होती है, यह संयोग स्वतन्त्ररूप से नहीं होता है परन्तु वह ईश्वराधीन है—यह प्रथम वक्तव्य है। (२) गुण कौन-कौन से हैं ? उनके कार्य क्या हैं ? एवं वे किस प्रकार से जीव को बांधते हैं ? यह द्वितीय वक्तव्य है। इस अध्याय के अठारह श्लोक तक ये दोनों बातें तो कह दी गई हैं अर्थात् (क) क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ का संयोग ईश्वराधीन है (ख) सत्त्व रज, तम ये तीन गुण हैं (ग) वे किस प्रकार बांधते हैं ? (घ) कौन से गुण के किस कार्य से उसका प्राधान्य (प्रबलता) जाना जाता है ? (ङ) एक गुण दूसरे अपर दोनों गुणों को अभिभूत कर किसप्रकार स्वयं प्रबल होता है ? (च) प्रत्येक गुण की वृद्धि के समय किस प्रकार के लक्षण देखे जाते हैं ? (छ) किस गुण की वृद्धि के समय देहान्त (मृत्यु) होने पर किस प्रकार की गति होती है ? इत्यादि विस्तार पूर्वक कहा गया है। अब यह कहना रह जाता है कि (३) इन गुणों से मुक्ति कैसे हो सकती है ?। और मुक्त पुरुष के लक्षण क्या हैं ? सो इस विषय में भगवान् ऐसा कहते हैं कि गुण मिथ्या ज्ञानस्वरूप हैं, इसलिये सम्यक् ज्ञान से उनसे मुक्ति हो सकती है। (मधुसूदन)]

(१३।२१) वें श्लोक में कहा गया है कि पुरुष (जीव) प्रकृति में स्थित होकर मिथ्याज्ञान से (अज्ञान से) भोक्ता होकर सुख-दुःख-मोहात्मक भोगरूप गुणों में तादात्म्य बुद्धि करके 'मैं सुखी, मैं दुःखी हूँ अथवा मैं मूढ़ हूँ' इस प्रकार गुणों के साथ सङ्गप्राप्त होता है। यह सङ्ग ही (अभिनिवेश ही) पुरुष को सत्-असत् (अच्छी-बुरी) योनियों में जन्मप्राप्तिरूप संसार का कारण है। यह बात जो पहले तेरहवें अध्याय में संक्षेप से कही थी उसी को यहाँ 'सत्त्वंरजस्तम इति गुणाः प्रकृतिसम्भवाः' (१४।५) इस श्लोक से लेकर अठारह श्लोक तक गुणों का स्वरूप, गुणों का कार्य, उस कार्य के द्वारा

गुणों का बन्धकत्व तथा गुणों के कार्यों द्वारा बंधे हुए पुरुष की गति इन सब अज्ञान-मूलक मिथ्याज्ञानरूप बन्धन के कारणों को विस्तारपूर्वक वर्णन कर अब सम्यक्ज्ञान से मोक्ष कैसे होता है? यह स्पष्ट करना चाहिए, इसलिये भगवान् कहते हैं—

नान्यं गुणेभ्यः कर्तारं यदा द्रष्टानुपश्यति ।
गुणेभ्यश्च परं वेत्ति मद्भावं सोऽधिगच्छति ॥ १९ ॥

अन्वय—यदा द्रष्टा गुणेभ्यः अन्यम् कर्तारम् न अनुपश्यति, गुणेभ्यश्च परम् (आत्मानम्) वेत्ति (तदा) सः मद्भावम् अधिगच्छति ।

अनुवाद—किस समय द्रष्टा (विचारकुशल विद्वान् पुरुष) गुणों के सिवा किसी और को कर्ता नहीं देखता है तथा गुणों से परे जो क्षेत्रज्ञ (साक्षीरूप आत्मा) है उसे जानता है, तब वह मेरे भाव को (स्वरूप को) प्राप्त हो जाता है।

भाष्यदीपिका—यदा द्रष्टा—जिस समय द्रष्टा (अर्थात् विद्वान् व्यक्ति विचार द्वारा अपने को द्रष्टा जानकर) **गुणेभ्यः न अन्यम् कर्तारम् अनुपश्यति**—कार्य, कारण और विषयों के आकार में परिणत हुए गुणों से अतिरिक्त अन्य किसी को भी कर्त्ता नहीं देखता है अर्थात् यह देखता है कि समस्त अवस्थाओं में स्थित हुए गुण ही समस्त कर्मों के कर्त्ता हैं। ['अनु' शब्द का अर्थ है पश्चात् , अतः 'न अनुपश्यति' पद का तात्पर्य यह है कि गुरु तथा शास्त्र के वाक्यों से परमार्थतत्त्व श्रवण करने के पश्चात् मनन (विचार) द्वारा यह देखना है कि अन्तःकरण, बाह्यकरण, देह और विषय के रूप में परिणत हुए गुण ही सर्व अवस्थाओं में समस्त कर्मों के अर्थात् कायिक, वाचिक, मानसिक, विहित, प्रतिषिद्ध (निषिद्ध) इन समस्त कर्मों के कर्ता हैं।] **गुणेभ्यः च परम् (आत्मानम्)**—तथा गुणों से परे अर्थात् जल और उसके कम्पादि से आकाश में स्थित सूर्य जिसप्रकार असंस्पृष्ट रहता है उसीप्रकार गुण और उनके कार्यों से असंस्पृष्ट उनके प्रकाशक क्षेत्रज्ञ को निर्विकार, सर्वसाक्षी, सर्वत्र समान एवं अद्वितीय जानता है—(मधुसूदन) अर्थात् गुणों के व्यापारों के साक्षीरूप आत्मा को गुणों से परे जानता है। **सः मद्भावम् अधिगच्छति**—तब वह द्रष्टा (विचार कुशल पुरुष) मेरे भाव को (स्वरूप को) अधिगत होता है (प्राप्त होता है) अर्थात्

मेरे ब्रह्मस्वरूप में प्रविष्ट होता है (ब्रह्मस्वरूपता प्राप्तकर जीवन्मुक्त की अवस्था को प्राप्त होता है)।

टिप्पणी—(१) **श्रीधर**—इस प्रकार प्रकृति के गुणसङ्ग से होने वाले उस जन्मादिरूप संसार का विस्तार के सहित वर्णन करके अब प्रकृति से आत्मा को विवेक कर (पृथक् करने पर) मोक्ष की प्राप्ति होती है, इसे दिखाते हैं **यदा द्रष्टा गुणेभ्यः अन्यम् कर्तारम् न अनुपश्यति**—जब यह द्रष्टा विवेकी होकर बुद्धि आदि के आकारों में परिणत गुणों से अतिरिक्त अन्य किसी को कर्म का कर्ता नहीं देखता है अपितु यही देखता है कि गुण ही समस्त कर्म करते हैं **गुणेभ्यश्च परं वेत्ति**—तथा गुणों से परे (सम्पूर्ण पृथक्) उन गुणों के साक्षीभूत आत्मा को जानता है **सः मद्भावम् अधिगच्छति**—वह तो मेरे भाव को (ब्रह्मस्वरूपता को) प्राप्त होता है।

(२) **शंकरानन्द**—'त्रिभिर्गुणमयैर्भावैः' (तीन गुणमय भावों से), 'दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया' (मेरी यह दैवी गुणमयी माया दुरत्यया है) तथा 'कारणं गुणसङ्गोऽस्य' (गुणों का सङ्ग इसके जन्म के कारण है) इत्यादि से गुणों में मोहकत्व, दुर्जयत्व और सत् एवं असत् योनियों में होने वाले जन्मों के प्रति कारणत्व कहा गया है, उसी को विशेषरूप से स्पष्ट करने के लिये फिर भी 'सत्त्वं रजस्तमः' (गीता १४।५) इत्यादि से गुण ही सुख, तृष्णा, आसक्ति, कर्मप्रवृत्ति, प्रमाद, आलस्य एवं निद्रा आदि के संगत्व द्वारा अविद्यादि से दोषवान् पुरुष के (अर्थात् जो गुण और गुणों के कार्यों में 'मैं और मेरा' इस प्रकार के मिथ्याज्ञान से स्थित रहता है ऐसे पुरुष के) देव, मनुष्य, तिर्यक् इत्यादि योनियों में जन्मादि अनर्थ के प्रति कारण होते हैं, ऐसा प्रतिपादन करके अब 'मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते' (जो मेरी ही शरण लेते हैं वे इस माया को तर जाते हैं) इस प्रकार कही गई रीति से शास्त्र एवं आचार्य के प्रसाद से तथा मेरे अनुग्रह से सम्यक् प्रकार विवेक द्वारा आत्मा तथा अनात्मा के स्वरूप को जानने वाला जो ब्रह्मवित् यति गुणों के सङ्ग से ही समस्त अनर्थों की सृष्टि होती है, इस प्रकार जानकर अनात्म विषय की वासना के वश न होकर तथा प्रत्यग् दृष्टि को न छोड़कर (अधिष्ठान स्वरूप आत्मा में दृष्टि रखकर) सब अवस्थाओं

में सर्वदा गुणों का ही कर्तृत्व, कार्यत्व एवं भोक्तृत्व तथा अपने को असङ्ग एवं साथ-साथ अपने को गुणों का, उनके कार्य और अवस्था का साक्षी देखता है, वह सदा आत्मनिष्ठा से कार्य सहित तीनों गुणों का अतिक्रम कर मुक्त हो जाता है, ऐसा अब दो श्लोकों में प्रतिपादन करते हैं। **यदा द्रष्टा**—'चक्षुषो द्रष्टा, श्रोत्रस्य द्रष्टा, वाचा द्रष्टा, मनसो द्रष्टा, बुद्धेर्द्रष्टा, प्राणस्य द्रष्टा, तमसो द्रष्टा, सर्वस्य द्रष्टा' (चक्षु का द्रष्टा, श्रोत्र का द्रष्टा, वाणी का द्रष्टा, मन का द्रष्टा, बुद्धि का द्रष्टा प्राण का द्रष्टा, तम का द्रष्टा, सबका द्रष्टा), 'साक्षी चेताः केवलो निर्गुणश्च' (साक्षी, चेता केवल और निर्गुण) तथा 'अप्राणो ह्यमनाः शुभ्रः' (प्राण और मन से रहित शुभ) इत्यादि श्रुतियों से और 'आत्मा देहेन्द्रियमनोबुद्ध्यादिभ्यो भिन्नः, द्रष्टृत्वाद्, घटद्रष्टवत्' (आत्मा देह, इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदि से भिन्न है द्रष्टा होने से, घट के द्रष्टा के समान) इत्यादि युक्तियों से देह इन्द्रियादि से भिन्न तथा अपने आत्मरूप से जिसने सम्यक् प्रकार आत्मस्वरूप को जान लिया इस प्रकार अपने अविक्रियत्व का द्रष्टा यति जिस काल में (अर्थात् समाधि से ज्ञान की परिपक्व दशा में) **गुणेभ्यश्च अन्यम् कर्तारम् न अनुपश्यति**—गुणों से (गुणों के कार्य देह, इन्द्रियादि से) अतिरिक्त (भिन्न) अन्य किसी को कर्ता नहीं देखता अर्थात् कायिक, वाचिक, मानसिक, विहित, निषिद्ध और सामान्य सब कर्मों का कर्ता गुण से उत्पन्न हुई देह, इन्द्रियादि ही हैं उनसे अतिरिक्त और कोई नहीं है, ऐसा देखता है तत् तत् कर्म की उत्पत्ति के उत्तर क्षण में ही देह, इन्द्रियादि को ही कर्ता देखता है अर्थात् तत्-तत् कर्म का कर्ता देह, इन्द्रियादि ही हैं, ऐसा जानता है अर्थात् चक्षु ही देखता है, श्रोत्र ही सुनता है, मन ही सोचता है, बुद्धि ही जानती है, वागेन्द्रिय ही बोलती है किन्तु मैं तो इन्द्रियरहित हूँ अतः नहीं बोलता हूँ, इस प्रकार आत्मा को अकर्ता ही देखता है। जिस प्रकार गज पर आरूढ़ पुरुष गज के (हाथी) गमन को ही देखता है, अपने गमन को नहीं, ऐसे अपने से भिन्न (क) देह इन्द्रियादि में ही कर्तृत्व (ख) सत्त्वादि गुणों के कार्यभूत अविद्या, कामादि में कार्यत्व तथा (ग) विज्ञान आत्मा में ही उनके फल का भोक्तृत्व देखता है अपने में नहीं। जैसे रथ में आरूढ़ पुरुष अपने में कर्तृत्वादि नहीं देखता ऐसे ही जब इस प्रकार ब्रह्मवित् यति आत्मा एवं अनात्म के विवेक-विज्ञान से अपने से

व्यतिरिक्त देह, इन्द्रियादि में कर्तृत्व एवं भोक्तृत्व को देखता है, **गुणेभ्यः च परं वेत्ति**—तभी गुणों एवं गुणों के कार्य अहंकार आदि से परे (विलक्षण) अकर्ता अभोक्ता, अमंता अगन्ता अविकार, क्षेत्र और उसके धर्म एवं कर्म से असंस्पृष्ट आत्मा को जानता है अर्थात् आत्मा को निष्कल (अंशरहित) निष्क्रिय, शान्त, आकाश के समान परिपूर्ण देखता है एवं देह, इन्द्रियादि का ही कर्तृत्व जो स्वयं साक्षात् देखता है **सः मद्भावम् अधिगच्छति**—वह विद्वान् मेरे भाव को मेरी अर्थात् निर्विशेष परमब्रह्म की स्वरूपता को (परिपूर्णत्व को) प्राप्त होता है। नित्य निरन्तर समाधि से जो यथार्थ ज्ञान प्राप्त होता है 'यह और मैं सब ब्रह्म ही हैं' इसप्रकार जो सबको तथा अपने को ब्रह्ममात्र ही देखता है वह गुणों का और उनके कार्यरूप अनर्थ का (संसार गति का) अतिक्रम करके जीवित रहते हुए भी ब्रह्मस्वरूप में स्थित रहता है अर्थात् जीवन-मुक्त अवस्था को प्राप्त हो जाता है।

(३) नारायणी टीका—त्रिगुणात्मिका प्रकृति ही माया है इस प्रकृति या माया से ही समस्त संसार-प्रपंच उत्पन्न हुआ है। इन प्रकृति (गुणों) के कार्य देह, इन्द्रियादि में अध्यास (आत्माभिमान) कर पुरुष (जीव) प्रकृति के गुणों को (प्रकृति से उत्पन्न हुए विषयों को) भोग करता है एवं उन गुणों के (सत्त्व, रज, तम, इन त्रिगुणात्मक विषयों के) साथ सङ्ग ही पुरुष के सद्-असद् (अच्छी-बुरी) योनियों में भ्रमण का हेतु होता है, यह पूर्व अध्याय में कह चुके हैं अर्थात् अज्ञान के कारण प्रकृति या गुणों के साथ सङ्ग (आसक्ति) ही बन्धन का कारण है, यह सिद्ध हुआ। अपने आश्रमानुकूल शास्त्रविहित कर्मादि का निष्कामभाव से अनुष्ठान करके चित्त-शुद्धि हो जाने पर जब वैराग्यवान् मुमुक्षु शास्त्रज्ञ एवं ब्रह्मनिष्ठ गुरु की शरण लेकर उनके मुख से वेदान्त प्रतिपाद्य सर्वात्मा ब्रह्म के स्वरूप को जान लेता है एवं जगत्-प्रपंच का मिथ्यात्व दृढ़ निश्चय कर लेता है तब उसके पश्चात् मनन से (विचार से) यह जानने में समर्थ होता है कि समस्त प्रपंच में त्रिगुण ही समस्त कार्य करते हैं एवं निर्गुण, निर्विशेष, नित्य, शुद्ध, बुद्ध, मुक्त, आत्मा उन गुणों से सदा ही अतीत है, उन गुणों के भासक (प्रकाशक) एवं द्रष्टा (साक्षी) होकर भी गुणों के कार्यों से असंस्पृष्ट होकर अविकारी सत्ता में नित्य अवस्थित है। इस प्रकार मनन के पश्चात् वह विद्वान् गुणों के कार्य देह,

इन्द्रियादि में आत्मबुद्धि न कर द्रष्टा आत्मा में ही 'मैं यह हूँ' इस प्रकार आत्मबुद्धि करता है यही 'गुणेभ्यः च परं वेत्ति' वाक्य का तात्पर्य है। इसके पश्चात् निरंतर समाधि द्वारा जब यह साक्षात् अनुभव करता है कि विश्वप्रपंच की उत्पत्ति कभी हुई ही नहीं, वह तो केवल अज्ञान से कल्पित होकर प्रतीत होता है, अतः समस्त दृश्य पारमार्थिक दृष्टि से ब्रह्मस्वरूप ही है तब वह त्रिगुण एवं उनके अनर्थकर कार्यरूप संसार को अतिक्रम कर जीवित अवस्था में ही ब्रह्मभाव (ब्रह्मस्वरूपता) अधिगत (प्राप्त) होता है [श्लोक में 'अनु' शब्द का अर्थ है पश्चात् अर्थात् (क) चित्तशुद्धि के पश्चात् गुरुमुख से श्रवण, (ख) श्रवण के पश्चात् मनन एवं (ग) मनन के पश्चात् निदिध्यासन से ब्रह्मभाव को प्राप्त हो सकता है, इससे अतिरिक्त अन्य कोई उपाय नहीं हैं यही कहने का अभिप्राय है।]

[पूर्वोक्त ब्रह्मभाव किस प्रकार प्राप्त हो जाता है इसके बतलाते हैं—]

गुणानेतानतीत्य त्रीन्देही देहसमुद्भवान्।
जन्ममृत्युजरादुःखैर्विमुक्तोऽमृतमश्नुते ॥ २० ॥

अन्वय—देहसमुद्भवान् एतान् त्रीन् गुणान् अतीत्य जन्ममृत्युजरादुःखैः विमुक्तः सन् देही अमृतम् अश्नुते।

अनुवाद—देहधारी जीव देह की उत्पत्ति के बीजभूत इन तीनों गुणों को पार करके जन्म, मृत्यु और जरा (बृद्धावस्था) रूप दुःख से मुक्त होकर अमृत (ब्रह्मभावरूप मोक्ष) को प्राप्त कर लेता है।

भाष्यदीपिका—देहसमुद्भवान् एतान् त्रीन् गुणान् अतीत्य—[जिससे सम्यक्‌रूप उत्पन्न होता है उसे समुद्भव कहते हैं। देहों का समुद्भव (उत्पत्ति) जिससे होता है वह देहसमुद्भव है अर्थात् देहों की उत्पत्ति का जो बीज स्वरूप है वह 'देहसमुद्भव' है। (आनन्दगिरि)] देह की उत्पत्ति के बीजभूत इन मायोपाधिक पूर्वोक्त तीनों गुणों का (जीवित अवस्था में ही) अतिक्रम करके अर्थात् माया ही जिनका स्वरूप है उन सत्व, रज एवं तम नामक ये तीनों गुण एवं उनके समस्त कार्य कल्पित तथा मिथ्या

हैं, इस प्रकार तत्वज्ञान द्वारा निश्चय कर जीवित रहते हुए ही उनको पार करके (बाधित करके) अर्थात् इनके सङ्ग को परित्याग करके-(मधुसूदन) **जन्ममृत्युजरादुःखैः विमुक्तः सन्**-इन तीनों गुणों के द्वारा कृत जन्म, मृत्यु, जरा (बुढ़ापा) एवं दुःखों से मुक्त होकर जीता हुआ ही [अथवा जन्म, मृत्यु और जरा रूप दुःख से अर्थात् जन्म, मृत्यु और जरा अवस्था से होने वाले आध्यात्मिक, आधिभौतिक तथा आधिदैविक इन तीन प्रकार के मायामय दुःखों से विमुक्त होकर अर्थात् जीवित रहते हुए ही उनके सम्बन्ध से शून्य होकर (मधुसूदन)] **देही**—पूर्व श्लोकोक्त तत्त्वदर्शी विद्वान् पुरुष **अमृतम् अश्नुते**—अमृतत्व (परमानन्द मोक्ष) का भोग करता है अर्थात् इस प्रकार वह मेरे भाव (ब्रह्मस्वरूपता) को प्राप्त होता है। [मृत्यु तक जीवन्मुक्त का आनन्द तथा देहपात के पश्चात् परमानन्दस्वरूप कैवल्य (मोक्ष) को प्राप्त कर लेता है।

टिप्पणी—(१) श्रीधर—ब्रह्मभाव को प्राप्त करने से देही गुणजनित समस्त अनर्थों से निवृत्त होकर कृतार्थ हो जाता है यह कहते हैं-**देहसमुद्भवान् एतान् त्रीन् गुणान् अतीत्य**--देहादि के आकार में उत्पन्न होना जिनका परिणाम है उनको 'देहसमुद्भव' कहा जाता है। उनको अर्थात् देहादिरूप में परिणामप्राप्त होने वाले तीनों ही गुणों को अतिक्रमण (परित्याग) करके उन गुणों के कार्यरूप **जन्ममृत्युजरादुःखैः विमुक्तः (सन्) देही अमृतम् अश्नुते**--जन्म, मृत्यु, बुढ़ापा और दुःखादि से मुक्त होकर अमृत को (ब्रह्मानन्द को) प्राप्त हो जाता है।

(२) शंकरानन्द—कर्तृत्व, भोक्तृत्व आदि धर्मविशिष्ट देह तथा इन्द्रियादि से भिन्न अविक्रिय आत्मा को ही जानकर ब्रह्मविद् यति सर्वदा अपने आत्मा के अनुभव से तीनों गुणों का अतिक्रमण करके ही मुक्त होता है—अन्यथा नहीं, ऐसा बोधन करने के लिये कहते हैं—**देही एतान् देहसमुद्भवान् त्रीन् गुणान् अतीत्य**-जिस प्रकार आदित्य, मेघ से भिन्न तथा मेघ एवं उसके कार्य से अस्पष्ट रहता है ऐसे ही देह, इन्द्रियादि से भिन्न तथा देह और उसके कार्य से अस्पृष्ट अकर्ता तथा अभोक्ता आत्मा को जानकर देही अर्थात् ब्रह्मविद् यति इन देहसमुद्भव तीनों गुणों का अतिक्रमण कर [चित्तप्रसाद, राग, मोह, लोभ आदि कारणों से जिनको जाना जाता है, ऐसे सुख,

ज्ञान, कर्मप्रवृत्ति तथा प्रमाद आदि में ही पुरुष का बन्धन करके ये तीनों गुण ज्ञान और उसके फल (मोक्ष) का रोक देते हैं एवं इसीलिये अपने परिणाम विशेष दया, सत्य, शौच, विनय, दान, शील आदि सात्त्विक विकारों से राग, द्वेष, लोभ असत्यादि राजस विकारों से और मोह, अभिनिवेश, अहंकार (मैं) ममकार (मेरा) आदि तामस विकारों से तथा पुण्य और पाप से सत्त्व, रज, तम ये तीनों गुण ही देह की उत्पत्ति के हेतु हैं। इसलिये इनको देहसमुद्भव (देह आरम्भक) कहा जाता है क्योंकि देह का समुद्भव (उत्पत्ति) जिनसे होता है वे देहसमुद्भव हैं। उक्त लक्षणों वाले तीनों गुणों का तथा गुण और कर्म से उत्पन्न हुए अविद्या, कामादि दोषों का अतिक्रमण करके **जन्ममृत्युजरादुःखैः विमुक्तः (सन्) अमृतम् अश्नुते**—प्रत्यग् वृत्ति से ['यह सब और मैं ब्रह्म ही हूँ' इसप्रकार सर्वत्र ब्रह्मदर्शनमात्र अग्नि स] गुणों का अर्थात् गुणों के कार्यरूप 'मैं, मेरा' इत्यादि समस्त विपरीत प्रत्ययों को सम्पूर्णरूप से जलाकर सत्तामात्रात्मक होकर (ब्रह्मसत्ता में ही स्थित होकर) ब्रह्मविद् यति देह के सम्बन्ध से उत्पन्न हुए जन्म, मृत्यु, जरारूपी दुःखों से (विमुक्त दुःखों से अस्पृष्ट) होकर अमृत को (विदेह-कैवल्यको) भोगता है अर्थात् नित्य, अखण्डानन्दैकरस, अद्वितीय ब्रह्मस्वरूप से स्थित होता है, यही कहने का अभिप्राय है।

(३) नारायणी टीका—जिस सम्यक् ज्ञान का विस्तृत वर्णन आगे किया जायगा उस ज्ञान का फल (मोक्ष) कैसे प्राप्त होता है ? यह संक्षेप से अब कहा जा रहा है—जीव अज्ञान से अपनी नित्य, शुद्ध चैतन्यसत्ता को भूलकर जड़ देहादि में आत्मबुद्धि करके संसार में बद्ध होता है। देहादि तथा समस्त दृश्य-प्रपंच गुणों से (सत्त्व, रज, तम इन तीनों गुणों से) अर्थात् तीनों गुणों के विचित्र परिणामरूप से भिन्न-भिन्न नाम तथा रूपों में उत्पन्न होता है, इसलिये इनगुणों को 'देहसमुद्भव' कहा जाता है। पूर्ववर्ती श्लोक में यह स्पष्ट किया गया है कि एक, सच्चिदानन्दस्वरूप, द्रष्टा या विज्ञाता आत्मा के अतिरिक्त जो कुछ दिखाई देता है यह सब उन तीनों गुणों का ही कार्य है एवं ये गुण ही चैतन्यस्वरूप आत्मा की सन्निधि से सृष्टि, स्थिति एवं प्रलय आदि सभी कार्यों के कर्ता हैं। माया से (आत्मा के आश्रित एक अनिर्वचनीय कल्पनाशक्ति से) ये तीनों गुण प्रकट होकर अपने-अपने कार्य करते हैं। अतः गुणसमूह

मायात्मक होने के कारण उनके सब कार्य भी कल्पित तथा मिथ्या ही हैं, इसप्रकार जानकर जो विद्वान् [देही (देहधारी विद्वान्)] पुरूष अपने अचल, अविकारी नित्य द्रष्टा या विज्ञाता आत्मा को उन गुणों से (अतः गुणों के कार्य देहादि समस्त द्रश्य प्रपंचों से) पृथक् कर वह अविचल, अविकारी, नित्य सत्य, चैतन्यस्वरूप, अद्वितीय, आनन्दघन, ब्रह्मस्वरूप आत्मा ही 'मैं हूँ'–मिथ्या (कल्पित) सदापरिणामी अनित्य देहादि मैं नहीं हूँ, इसप्रकार विवेकज्ञान द्वारा उस आत्मा में ही निरन्तर स्थित रहता है वह इन तीनों गुणों का (तथा गुणों के समस्त कार्य वर्गों का) अतिक्रमण करता है अर्थात् गुणों के साथ (तथा देहादि के साथ भी) सर्वप्रकार से सम्बन्धरहित होकर आत्मसंस्थ होता है। एवं देहादि के जो स्वाभाविक धर्म जन्म, मृत्यु, जरा (बुढ़ापा) आदि नानाप्रकार के दुःख हैं उनसे विशेषभाव से (पूर्णतया) मुक्त होकर अमृत का [मृत्युरहित ब्रह्मभाव (स्वरूपता) का] अनुभव करता है अर्थात् जीता हुआ ही (जीवन्मुक्ति की अवस्था प्राप्तकर ही) अमृतत्त्व (ब्रह्मस्वरूप मोक्षानन्द) का भोग करता है। 'अश्नुते' शब्द तीन अर्थों में प्रयोग किया जा सकता है–(क) अनुभव करता है (ख) प्राप्त होता है (ग) भोग करता है।

['शरीरधारी विद्वान्' इन तीनों गुणों को पार करके जीवित रहते हुए ही अमृतत्त्व को प्राप्त कर लेता है, इस प्रश्न-बीज को पाकर (इसप्रकार शंका उत्पन्न करने वाली बात सुनकर) गुणातीत के लक्षण, आचार और गुणातीत होने के उपाय को सम्यक् प्रकार से जानने की इच्छा से अर्जुन बोला—]

अर्जुनोवाच—

कैर्लिङ्गैस्त्रीन्गुणानेतानतीतो भवति प्रभो ।
किमाचारः कथं चैतांस्त्रीन्गुणानतिवर्तते ॥ २१ ॥

अन्वय—अर्जुनः उवाच—हे प्रभो ! कैः लिङ्गैः एतान् त्रीन् गुणान् अतीतः भवति, किम् आचारः, कथम् च एतान् त्रीन् गुणान् अतिवर्तते ।

अनुवाद—अर्जुन ने कहा—हे प्रभो ! किन लक्षणों से युक्त होकर यह देही

इन तीनों गुणों से पार होता है ? उसका क्या आचरण होता है ? और वह किन उपायों से इन तीनों गुणों का अतिक्रमण करता है ?

भाष्यदीपिका—हे प्रभो—हे सर्वशक्तिमान् सर्वप्रभो जगत्पते श्रीकृष्ण [तुम भगवान् हो और तुम ही प्रभु (सबके शासनकर्ता) हो, अतः तुम्हारा अनन्य भक्त तथा शरणापन्न मैं (अर्जुन) इन तीनों गुणों को पार कर सर्व दुःखों की अत्यन्त निवृत्ति तथा परमानन्दरूप ब्रह्मभाव की प्राप्ति कर सकूँगा, इस विषय पर क्या संशय रह सकता है ?—इसप्रकार पूर्ण विश्वास प्रकट करने के लिये अर्जुन ने यहाँ 'हे प्रभो' कह कर भगवान् को सम्बोधित किया ।] **कैर्लिङ्गैः—**['लीनमज्ञातविषयं गमयति ज्ञापयति इति लिङ्गम्' अर्थात् जिससे अज्ञात विषय ज्ञात होता है, वह लिङ्ग या लक्षण या चिन्ह कहलाता है ।]

किन-किन लक्षणों से युक्त होकर **एतान् त्रीन् गुणान् अतीतः भवति—** (देही अर्थात् शरीरधारी विद्वान् पुरुष) इन पूर्ववर्णित तीनों गुणों से अतीत (पार) होता है [जिन लक्षणों से इन गुणों से पार हुए पुरुष को जाना जाता है—यह एक प्रश्न है—(मधुसूदन)] **किम आचारः—**वह कैसे आचारण वाला होता है अर्थात् उसके आचरण कैसे होते हैं ! [क्या वह यथेष्ट आचरण (चेष्टा) करने वाला होता है अथवा शास्त्र के नियमानुसार चलनेवाला होता है ?—यह दूसरा प्रश्न है–(मधुसूदन)] **कथम् च एतान् त्रीन् गुणान् अतिवर्तते—**तथा किस प्रकार से (किस उपाय से) मनुष्य इन तीनों गुणों से अतीत हो सकता है [अर्थात् गुणातीत होने का उपाय क्या है ?—यह तीसरा प्रश्न है—(मधुसूदन)]

टिप्पणी (१) श्रीधर—अर्जुन बोला—हे प्रभो ! **कैर्लिङ्गैः एतान् त्रीन् गुणान् अतीतः भवति—**यह शरीरधारी विद्वान् पुरुष अपने में उत्पन्न (प्रकट) हुए कैसे कैसे चिन्हों (लक्षणों) से सम्पन्न होकर गुणातीत होता है ? यह गुणातीत के लक्षणों के सम्बन्ध में प्रश्न है **किम् आचारः—**वह कैसे आचरण वाला है (उसका आचरण कैसे होता है' अर्थात् वह किस प्रकार व्यवहार करता है ?) **कथम् च एतान् त्रीन् गुणान् अतिवर्तते—**तथा कैसे (किस उपाय से) मनुष्य इन तीनों का अतिक्रमण करता है ? यह सब बताइये ।

(२) **शंकरानन्द**—देह से भिन्न आत्मा को जानने वाला यति जीवित अवस्था में ही इन गुणों का अतिक्रमण कर मुक्त होता है, ऐसा सुन कर अर्जुन ने अत्यन्त विस्मित होकर गुणातीत के लक्षण, आचार और गुणों के अतिक्रमण के उपाय को जानने के लिये प्रश्न किया —हे प्रभो ! प्रकृष्ट (अतिशय) भास्वरूप (प्रकाशमान्) होने के कारण चिद्घन स्वरूप परमात्मा को 'प्रभु' कहा जाता है। **कैर्लिङ्गैः एतान् त्रीन् गुणान् अतीतः**—जिन तीनों गुणों के विषय में पूर्ववर्ती श्लोकों में कहा गया है उक्त लक्षणविशिष्ट तीनों गुणों का अतिक्रमण (पार) करके ब्रह्मस्वरूप से स्थित ब्रह्मविद् यति किन लिङ्गों (लक्षणों) से युक्त **भवति**–ज्ञात होता है (जाना जाता है) ? गुणातीत सिद्ध के (मुक्त पुरुष के) कौन से लक्षण हैं जिनसे यह गुणातीत है ऐसा जाना जाता है, यह अर्थ है। **किम् आचारः**—गुणातीत पुरुष का किसप्रकार का आचरण (व्यवहार) होता है ? क्या वह वैदिक (वेदविहित) आचरण करता है या लौकिक आचरण करता है अथवा यथेष्ट (अपनी इच्छानुसार) आचरण करता है ! **कथम् च एतान् त्रीन् गुणान् अतिवर्तते**—अपने-अपने विकारों से सागर के समान अपार इन सत्त्वादि तीनों गुणों का किस प्रकार से (किस उपाय से) अतिक्रमण करता है ? इन तीनों प्रश्नों का उत्तर स्पष्टरूप से आप मुझे देने की कृपा कीजिये, यही कहने का अभिप्राय है।

(३) **नारायणी टीका**—भगवान् ने जब कहा कि तीनों गुणों को पार करके विद्वान् पुरुष जीवित रहते हुए भी अमृतत्त्व को प्राप्त होता है तब अर्जुन को इस विषय पर और विस्तृतरूप से जानने की इच्छा उत्पन्न हुई एवं इसने भगवान् से ये तीन प्रश्न किये—(१)–गुणातीत का लक्षण क्या है ? अर्थात् गुणों को पार कर आत्मस्वरूप में स्थित होने पर उसमें क्या लक्षण दिखाई देते हैं ? (२)–गुणातीत का आचार (व्यवहार) कैसा है ? अर्थात् अपनी यथेष्ट इच्छानुसार चलता है ? (३) गुणातीत होकर ब्रह्मस्वरूपता को प्राप्त होने के उपाय क्या हैं ?

ये तीनों प्रश्न द्वितीय अध्याय में अर्जुन ने पहले ही किया था अर्थात् 'स्थितप्रज्ञस्य का भाषा' (२।५४) इत्यादि श्लोकों से पहले पूछ चूकने पर भी और 'प्रजहाति यदा कामान्' (२।५५) इत्यादि श्लोकों से उसका उत्तर भगवान् द्वारा दे दिये जाने

पर भी अर्जुन ने पुनः उक्त विषय का बुद्धि में अवधारण करने के लिये प्रकारान्तर से (अन्य प्रकार से) इस विषय को स्पष्टरूप से जानने के लिये भगवान् से प्रश्न किया। क्योंकि गुणातीत आत्मा का स्वरूप बहुत ही सूक्ष्म तथा दुर्बोध्य है अतः पूर्णतया संशयरहित होने के लिये उसके सम्बन्ध में बारम्बार प्रश्न करना तथा सद्गुरु से उसके समाधान का श्रवण करना अत्यावश्यक है। गुणातीत के लक्षण, आचार इत्यादि के बारे में प्रश्न करने का उद्देश्य यही है कि जो लक्षणादि मुक्त पुरुष में स्वभावसिद्ध हैं अर्थात् उनमें अपने आप प्रकट होते हैं, मुमुक्षु के लिये वही साध्य हैं अर्थात् उनकी प्राप्ति के लिये साधन करना आवश्यक है।

[पूर्ववर्ती श्लोक में अर्जुन ने गुणातीत के लक्षण और गुणातीत होने के उपाय पूछे हैं इन दोनों प्रश्नों का उत्तर देने के लिये श्रीभगवान् बोले कि पहले गुणातीत पुरुष किन-किन लक्षणों से युक्त होता है उसे सावधानता पूर्वक सुनो—]

श्रीभगवानुवाच

प्रकाशं च प्रवृत्तिं च मोहमेव च पाण्डव।
न द्वेष्टि सम्प्रवृत्तानि न निवृत्तानि काङ्क्षति ॥ २२ ॥

अन्वय—श्रीभगवान् उवाच हे पाण्डव! प्रकाशम् च प्रवृत्तिम् च मोहम् एव च सम्प्रवृत्तानि न द्वेष्टि (तथा) निवृत्तानि न काङ्क्षति।

अनुवाद—श्रीभगवान् ने कहा—हे अर्जुन! जो पुरुष सत्त्वगुण के कार्य प्रकाश रजोगुण के कार्य प्रवृत्ति एवं तमोगुण के कार्य मोह में सम्यक् प्रकार से प्रवृत्त होने पर भी अर्थात् इन तीनों गुणों के कार्य समूह सम्यक् प्रकार से प्रकट होने पर भी दुःख बुद्धि करके वह उनसे द्वेष नहीं करता एवं उन तीनों गुणों के कार्य (प्रकाश, प्रवृत्ति एवं मोह) के निवृत्त (दूरीभूत) होने पर भी उनमें सुखबुद्धि करके (वे फिर प्रवृत्त हों, इस प्रकार बुद्धि करके) उनकी आकांक्षा (इच्छा) नहीं करता है (इस प्रकार का पुरुष ही गुणातीत कहलाता है)।

भाष्यदीपिका-**प्रकाशम् च**-सत्त्वगुण का कार्य प्रकाश **प्रवृत्तिम् च**-रजोगुण का कार्य प्रवृत्ति, **मोहम् एव च**—तमोगुण का कार्य मोह (अविवेक) [प्रकाशादि

शब्द यहाँ उपलक्षण मात्र हैं अर्थात् उन शब्दों से तीनों गुणों को एवं अन्य सभी कार्यों (गीता १४।११—१३) को भी सूचित किया गया है] **सम्प्रवृत्तानि**—ये सब अपने-अपने स्वभाववश भली भाँति विषय रूप से उद्भूत (अभिव्याप्त) होते हैं **न द्वेष्टि**—दुःख बुद्धि से वह गुणातीत व्यक्ति इनसे द्वेष नहीं किया करता। अभिप्राय यह है कि (क) 'मुझ में तामसभाव उत्पन्न हो गया', 'उससे मैं मोहित हूँ' और (ख) 'दुःखरूप राजसी प्रवृत्ति मुझमें उत्पन्न हुई है' अतः 'मैं राजस भाव से कर्म में प्रवृत्त हूँ' तथा (ग) 'स्वरूप से विचलित हूँ' अतः इसप्रकार 'अपनी स्वरूपस्थिति से विचलित होना मेरे लिये बड़ाभारी कष्ट (दुःख) है' तथा (घ) 'प्रकाशमय सात्त्विक गुण मुझे विवेकत्व प्रदान करके और सुख में नियुक्त करके बांधता है'। इसप्रकार साधारण मनुष्य अतत्त्वदर्शी होने के कारण उनगुणों के समूहों को उद्भूत (प्रकट) देखकर उनसे द्वेष किया करता है अर्थात् दुःखबुद्धि से उनसबका परिहार करने के लिये इच्छा करता है किन्तु गुणातीत पुरुष उनकी प्राप्ति होने पर उनसे द्वेष नहीं करता तथा **निवृत्तानि न काङ्क्षति**—जिसप्रकार सात्त्विक, राजस एवं तामस पुरुष (सत्त्वगुण में, रजोगुण में एवं तमोगुण में अभिमानी (पुरुष) जब सात्त्विकादि भाव अपने प्रति प्रकट होकर निवृत्त (अदर्शनप्राप्त) हो जाते हैं तब सुख-बुद्धि से उनको (वह अज्ञानी पुरुष उन सात्त्विकादि भावों को) पुनः उद्भूत (अभिव्यक्त) हो ऐसा चाहता है, उसीप्रकार गुणातीत पुरुष उन निवृत्त हुए गुणों के कार्यों को नहीं चाहता हैं क्योंकि उसने सात्त्विकादि सभी भावों को स्वप्न के समान मिथ्या मान रखा है। अतः वह गुणातीत पुरुष राग एवं द्वेष से पूर्णतया रहित है। जो इसप्रकार है 'गुणातीतः सः उच्यते' वह गुणातीत कहा जाता है, इसप्रकार इसका २५ वें श्लोक के वाक्य से अन्वय करना चाहिए। यह गुणातीत को ही प्रत्यक्ष होने वाला लक्षण गुणातीत के ही लिये है, किसी दूसरे के लिये नहीं [अर्थात् गुणातीत स्वयं ही यह अनुभव कर सकता है, बाहर के किसी व्यक्ति के लिये यह देखने योग्य नहीं है क्योंकि अपने में रहने वाले द्वेष और द्वेष का अभाव तथा राग एवं राग का अभाव कोई दूसरा नहीं जान सकता]

टिप्पणी—(१) **श्रीधर**—श्रीभगवान् बोले-**प्रकाशम् च प्रवृत्तिम् च मोहम् एव च पाण्डव सम्प्रवृत्तानि**—हे पाण्डव! इस शरीर के

समस्त द्वारों में (१४ । ११) इस प्रकार पहले कहा हुआ सत्त्वगुण का कार्य प्रकाश, रजोगुण का कार्य प्रवृत्ति एवं तमोगुण का कार्य मोह जब सम्यक् प्रकार से प्रवृत्त होते हैं [यहाँ प्रकाश, प्रवृत्ति तथा मोह शब्दों से सत्त्वादि तीनों गुणों के अन्य कार्य भी उपलक्षित (सूचित) किये गये हैं। भाव यह है कि सत्त्व रज तथा तम गुणों के सम्पूर्ण कार्य जैसे-जैसे प्रवृत्त होते हैं (स्वभाववश अपने आप प्राप्त होते हैं) **न द्वेष्टि**—उन सबके प्रति जिस प्रकार अज्ञानी पुरुष दुःख बुद्धि से द्वेष करता है ऐसे गुणातीत पुरुष नहीं करता है तथा **न निवृत्तानि काङ्क्षति**—उक्त गुणों के कार्य निवृत्त होने पर सुखबुद्धि से 'वे पुनः उद्भूत या प्रवृत्त हों' ऐसी आकांक्षा भी नहीं करता जिसका इसप्रकार का लक्षण है 'वह गुणातीत कहा जाता है' इसप्रकार २५ वें श्लोक के वाक्य के साथ इस श्लोक का अन्वय है।

(२) **शंकरानन्द**—उक्त तीनों प्रश्नों से गुणातीत का लक्षण क्या है ? इस प्रश्न का उत्तर देने के लिये श्रीभगवान् बोले—गुण तथा गुणों के कार्यों का जो स्वयं अविषय होकर (उनसे अस्पृष्ट रहकर) तथा उन दोनों को चिद्वृत्ति से (मैं चैतन्यस्वरूप ब्रह्म हूँ इस प्रकार की वृत्ति से) सम्यक् प्रकार से अतिक्रमण कर ब्रह्म में ही सदा ब्रह्मस्वरूप से स्थित रहता है। वह गुणातीत ब्रह्मवित् यति **प्रकाशम् च प्रवृत्तिम् च मोहम् एव च सम्प्रवृत्तानि न द्वेष्टि न निवृत्तानि काङ्क्षति**—सत्त्वगुण के कार्य प्रकाश, रजोगुण के कार्य प्रवृत्ति तथा तमोगुण के कार्य मोह के भलीभांति प्राप्त होने पर भी उनसे द्वेष नहीं करता। [प्रकाश सत्त्वगुण का विकार है। उससे विषय के सुख और ज्ञान इन दोनों में चित्त और इन्द्रियों की आसक्ति होने पर रसास्वादरूप प्रसाद (प्रसन्नता) उत्पन्न होकर समाधि का अन्तराय (विघ्न) होता है। प्रवृत्ति (मन, इन्द्रियों के विषयों में प्रवृत्ति) रजोगुण का कार्य है और विषय के प्रति राग (आसक्ति) ही उसका मूल है। वह मन एवं इन्द्रियों के बाह्य विषय प्रावण्य (बाह्य विषय के लिये प्रबल आसक्ति) उत्पन्न कर विक्षेपसृष्टि करती है एवं इसलिये वह समाधि का अन्तराय (विघ्न) होता है। 'एव' शब्द (भी) के अर्थ में है। मोह तमोगुण का विकार है। वह जीव को निद्रा, आलस्य और प्रमाद में आसक्त कर देता है तथा इसके लक्षण हैं लय एवं कषाय (मलिनता)। अतः मोह भी समाधि का अन्तराय है।]

कहने का अभिप्राय यह है कि प्रकाश, प्रवृत्ति एवं मोह के प्राप्त होने पर प्रतिकूलत्व बुद्धि (दुःखबुद्धि) द्वेष नहीं करता है क्योंकि ब्रह्मवित् यति की दृष्टि में प्रकाशादि तीनों गुणों के कार्य चिदाभास (चैतन्यस्वरूप आत्मा के आभासयुक्त अन्तःकरण) के विषय हैं—शुद्ध चैतन्यस्वरूप आत्मा का उनसे कोई सम्बन्ध नहीं है। अतः इसप्रकार ज्ञाननिष्ठ पुरुष किंचित् भी विक्षेप को प्राप्त नहीं होता है। जिस प्रकार निदिध्यासन करने वाला साधक सत्त्व, रज, तम गुणों के कार्य प्रकाश, प्रवृत्ति तथा मोह यथाक्रम से (क) रसास्वाद (ख) विक्षेप (ग) लय (चित्तवृत्ति की निद्रा) से एवं कषाय (वासनारूप मलिनता) समाधि के विघ्न रूप से जब सम्यक्प्रकार प्रवृत्त (प्राप्त) हो जाय तो अज्ञानी उनसे द्वेष करता है अर्थात् 'ये मेरी समाधि के विघ्न हैं' ऐसा समझकर विक्षित होता है और न उनकी निवृत्ति चाहता है अर्थात् उनकी निवृत्ति के लिये निद्रा आदि जो कुछ उसके देखने में आते हैं उनकी निन्दा आदि प्रतिक्रिया करता है परन्तु गुणातीत संसिद्ध यति को यदि प्रकाशादि प्राप्त हो जायँ तो उनसे द्वेष नहीं करता है और न उनकी निवृत्ति की आकांक्षा करता है। वह जानता है कि ये सब दृश्य केवल चित्त के विलास हैं अर्थात् चित्स्वरूप आत्मा को अधिष्ठान कर मायाकल्पित होने के कारण इनकी कोई पारमार्थिक सत्ता नहीं है। अतः अधिष्ठान सत्ता से ये पृथक् न होने के कारण सर्वत्र ब्रह्मद्रष्टि से इनको ब्रह्मस्वरूप में अन्तर्भूत मान कर उनकी निवृत्ति की भी अपेक्षा नहीं करता है। अनात्म देहादि में तादात्म्याध्यास (यह मैं हूँ, यह मेरा है, इसप्रकार अभिमान) होने पर ही राग, द्वेषादि उत्पन्न होते हैं। नित्य, निरन्तर, निर्विकल्प समाधिरूप अग्नि से मैं, मेरारूप अध्यासजनित बन्धन के पूर्णतया दग्ध हो जाने पर विद्वान् में अनात्म देह—अन्तःकरण इत्यादि के गुण जो राग-द्वेषादि हैं उनका आविर्भाव नहीं होता—ऐसा कहना युक्त ही है। इससे यह सूचित होता है कि विक्षेपकर गुण एवं कार्यों के प्राप्त होने पर भी द्वेषादि का अभाव गुणातीत का अन्तरलिङ्ग (भीतर का लक्षण) है एवं वह गुणातीत पुरुष ही अपना स्वयं प्रत्यक्ष अनुभव करता है।

(३) **नारायणी टीका**—जो त्रिगुणातीत हैं उनको किस लक्षण से जाना जाता है? इस प्रकार अर्जुन के प्रथम प्रश्न के उत्तर में भगवान् कहते हैं कि

सत्त्वगुण के कार्य प्रकाश, रजोगुण के कार्य प्रवृत्ति एवं तमोगुण के कार्य मोह के व्युत्थानावस्था में सम्यक् प्रकार से उद्भूत (प्रकट) होने पर भी गुणातीत पुरुष 'यह मेरा दुःखकर है क्योंकि यह समाधि के आनन्द का प्रतिबन्धक है, अतः यह मेरे संसार-बन्धन का कारण है' इस प्रकार की दुःखबुद्धि से उनसे द्वेष नहीं करता क्योंकि उनसे तत्त्वज्ञान के बल से अपनी आत्मा को 'यह प्रकृति तथा प्रकृति के कार्य आत्मा से सम्पूर्णतः पृथक् है'—ऐसा अनुभव कर लिया है। फिर उन सब कार्यों की निवृत्ति की भी आकांक्षा नहीं करता अर्थात् समाधि की अवस्था में तीनों गुणों के कार्यों की निवृत्ति होने पर 'यह बहुत ही सुखकर अवस्था है' इसप्रकार सुखबुद्धि से उन सब गुणों के कार्यों की निवृत्ति के स्थायित्व की (बराबर के लिये गुणों की निवृत्ति हो तथा समाधि नित्य निरन्तर विद्यमान रहे इसप्रकार की) आकांक्षा नहीं करता है। इसप्रकार प्रवृत्ति-निवृत्ति-शून्य पुरुष को गुणातीत कहा जाता है। ब्रह्मनिष्ठ पुरुष 'मेरा तमोभाव जाग्रत होने के कारण मैं नितान्त मूढ़ हूँ, रजोभावने मेरे पर आक्रमण किया है अतः मैं इससे स्वरूपच्युत हो गया हूँ' ऐसा दुःख नहीं करता है। फिर सत्त्वगुण के उदित होने पर भी 'मैं विवेकादि से सम्पन्न हूँ, मेरा चित्त प्रसन्न है, तथापि यह गुणों के ही कार्य होने के कारण यह भी सोने की सिकड़ी के समान बन्धन का कारण है' इस प्रकार का दुःख गुणातीत पुरुष नहीं करता है।

अब शंका होगी कि क्या केवल अभ्यास से ही विद्वान् अपने को गुणों से तथा गुणों के कार्यों से पृथक् जान कर अपने स्वरूप में अविचलितरूप से स्थित रह सकता है? इस पर कहा जायगा कि केवल अभ्यास से कुछ समय तक इस प्रकार की स्थिति सम्भव होने पर भी स्थायी भाव से उक्त प्रकार से रहना सम्भव नहीं है, जब तक कि अभ्यास द्वारा ज्ञान की तुरियाभूमिका प्राप्त न हो जाय। भगवान् वशिष्ठ ने कहा है—ज्ञानभूमिकायें सात प्रकार की हैं—(१) शुभेच्छा अर्थात् मुमुक्षु साधक 'मैं बद्ध हूँ, मैं मुक्त होऊँगा, मैं चेतन हूँ, मैं जड़ से अपने आत्मा को अवश्य पृथक् करके अपने को बन्धन से मुक्त करूंगा'। यह शुभेच्छा ज्ञान की प्रथम भूमिका है। (२) विचारणा—गुरुमुख से वेदान्त वाक्यादि के श्रवण के पश्चात् उसका मनन से विचार करना (३) तनुमनसा—श्रवण एवं मनन के पश्चात् निदिध्यासन के अभ्यास से मन की वृत्तियों को

'तनु' अर्थात् क्षीण कर देना अर्थात् विक्षेपकर सब वृत्तियों को रोकने के लिये प्रयत्न करके चित्त की स्थिरता (समाधि) का सम्पादन करना (४) सत्त्वापत्ति—ब्रह्मस्वरूप आत्मा के साक्षात्कार से उत्पन्न हुए तत्त्वज्ञान की प्राप्ति। यह ज्ञान की चतुर्थ भूमिका है। इसी अवस्था को प्राप्त होकर साधक पुनर्जन्म से मुक्त होता है। परन्तु सदा के लिये जीवन्मुक्ति के आनन्द को भोग करने में समर्थ नहीं होता है, अतः इसप्रकार ज्ञान होने के पश्चात् भी निरन्तर ब्राह्मीस्थिति के लिये अभ्यास की आवश्यकता होती है। (५) असंसक्ति—आत्मसाक्षात्कार से सम्यग्दर्शी पुरुष जान लेता है कि एकमात्र आत्मा ही सत्यवस्तु है एवं उससे अतिरिक्त जो कुछ भी वस्तुएँ व्युत्थान अवस्था में प्रतीत होती है, वे सभी माया-कल्पित है। अतः सब विषयों से आसक्ति रहित होकर वह आत्मस्थिति में रहने के लिये प्रयत्न करते हैं। उसके पश्चात् (६) पदार्थाभावनी—ब्रह्मस्थिति परिपक्व होने के कारण वह सर्वत्र ब्रह्म का ही दर्शन करता है, उसके अतिरिक्त दूसरी किसी वस्तु का नहीं अर्थात् केवल एक ब्रह्म के अतिरिक्त अन्य कोई वस्तु उसकी दृष्टि में नहीं भासती है। इसी अवस्था में अपने प्रयत्न से व्युत्थान नहीं होता है, व्युत्थान पर-प्रयत्न से (दूसरे के प्रयत्न से) होता है क्योंकि इस अवस्था में साधक नित्य समाधिस्थ रहता है (७) तुरीय—यह ब्राह्मीस्थिति की परिपक्व अवस्था है जिसमें साधक का न तो अपने प्रयत्न से, न ही पर प्रयत्न से व्युत्थान होता है। इस श्लोक में इस प्रकार के ब्रह्मलीन पुरुष की अवस्था ही वर्णित की गई है। अतः उसके लिये गुण तथा गुणों के कार्यों से पूर्णरूप से अपने को पृथक् अनुभव करने के कारण प्रारब्ध के संस्कारवश इन तीनों गुणों के कार्यों की प्रवृत्ति या निवृत्ति होने पर भी दोनों ही अवस्था में उदासीन रहना उसका स्वभाव है।

सत्त्वगुण सुखदायक है एवं स्थिरता इस गुण का स्वभाव है। अतः ब्रह्मनिष्ठ गुणातीत पुरुष सत्त्वगुण की प्रवृत्ति तथा निवृत्ति में भी वह रागद्वेष से उदासीन क्यों रहता है? इस पर कहा जाता है कि (१) अज्ञानी पुरुष के लिये सत्त्वगुण के उदय होने पर 'मैं सुख अनुभव कर रहा हूँ' इस प्रकार का कर्तृत्व अभिमान रहने के कारण सत्त्वगुण भी संसार-बन्धन का कारण होता है किन्तु गुणातीत पुरुष का तत्त्व-ज्ञान से समस्त विश्वप्रपंच का मिथ्यात्व निश्चय करने के पश्चात् उससे उत्पन्न हुए सुख-

दुःख इन दोनों के प्रति उदासीन होना युक्तियुक्त ही है। (२) क्योंकि पूर्णानन्द स्वरूप आत्मा में वह नित्य तृप्त रहता है। इसप्रकार नित्यतृप्त को सत्त्वगुण क्या सुख दे सकता है? फिर इन्द्रजाल या माया-मरीचिका के समान मिथ्या दृश्य वस्तु से यथार्थ स्वरूप की प्राप्ति कभी हो ही नहीं सकती (३) नित्यतृप्त गुणातीत पुरुष की इच्छा या अनिच्छा नहीं हो सकती। अतः किसी वस्तु के लिये राग अथवा द्वेष का होना असम्भव है क्योंकि जो सदा जाग्रत है उसके लिये निद्रा या तन्द्रा की सम्भावना कैसे हो सकती है? इसलिये गुणातीत पुरुष का कभी पतन (स्वरूप से विच्युति) नहीं होता है। पहले रज एवं तमोगुण का अतिक्रम कर नित्य सत्त्वस्थ होता है, तत्पश्चात् सत्त्वगुण को भी अतिक्रम कर साधक जब अपने स्वरूप में निरन्तर स्थित रहता है तब गुणातीत कहलाता है। इस गुणातीत के दो प्रकार के लक्षण हैं—(१) स्वसंवेद्य—जिस लक्षण से गुणातीत पुरुष स्वयं ही जान लेता है कि उसने त्रिगुण का अतिक्रमण किया है, वह स्वसंवेद्य लक्षण है क्योंकि बाहर से दूसरा कोई व्यक्ति उसे जान नहीं सकता। (२) गुणातीत की भाषा, आचरण इत्यादि लक्षणों द्वारा (द्वितीय अध्याय में स्थितप्रज्ञ का लक्षण द्रष्टव्य) विशेषज्ञ पुरुष जानने में समर्थ होता है कि यह गुणातीत है कि नहीं। उसे परसंवेद्य लक्षण कहा जाता है। इस श्लोक में जो गुणातीत का रागद्वेष-शून्य लक्षण बतलाया गया है वह स्वसंवेद्य लक्षण है क्योंकि रागद्वेष इत्यादि अन्तःकरण का धर्म है, अतः अपने आप में होने वाला द्वेष या आकांक्षा को अथवा इन दोनों के अभाव को दूसरा नहीं देख सकता है।

[अब गुणातीत पुरुष किस प्रकार के आचरण वाला होता है? यह बतलाते हैं—]

उदासीनवदासीनो गुणैर्यो न विचाल्यते।
गुणा वर्तन्त इत्येव योऽवतिष्ठति नेङ्गते ॥ २३ ॥

अन्वय—यः उदासीनवत् आसीनः गुणैः न विचाल्यते गुणाः वर्तन्ते इति एव यः अवतिष्ठति न इङ्गते।

अनुवाद—जो पुरुष उदासीन के समान अपने स्वरूप में स्थित रहकर गुणों के द्वारा चलायमान नहीं होता तथा गुण ही गुणों में प्रवृत्त हैं, ऐसा निश्चय कर अपने

स्वरूप में स्थित रहता है–किसी प्रकार की चेष्टा नहीं करता है, वह 'गुणातीत' कहलाता है।

भाष्यदीपिका—यः—जो आत्मवित् संन्यासी **उदासीनवत् आसीनः**—उदासीन के समान स्थित हुआ अर्थात् जैसे दो विवाद करने वालों में से उदासीन पुरुष किसी का भी पक्ष नहीं लेता है, अतः किसी के प्रति न तो राग करता है और न द्वेष, उसी प्रकार गुणातीत होने के उपायरूप मार्ग में स्थित हुआ जो ज्ञानी संन्यासी गुणों के कार्यों में उदासीन (रागद्वेषशून्य) होने के कारण अपने स्वरूप में ही स्थित रह कर **गुणैः न विचाल्यते**—सुख दुःखादि के आकार में परिणत गुणों के द्वारा विवेक ज्ञान की स्थिति से (स्वरूपस्थिति से) विचलित (विच्युत) नहीं किया जाता; इसी को स्पष्ट करते हैं कि-**गुणाः वर्तन्ते इति**—अपितु कार्य (देह), करण (इन्द्रिय) और विषयों के आकार में परिणत हुए ये गुण ही एक दूसरे में रहते हैं, मेरा तो इन सबको प्रकाशित करने वाले सूर्य के समान किसी भी प्रकाश्य वस्तु के धर्म से सम्बन्ध नहीं है। वह दृश्य (प्रकाश्य) प्रपंच तो जड़ और स्वप्न के समान मायामात्र है और मैं स्वयं-प्रकाश शुद्धचैतन्यस्वरूप परमार्थसत्य, निर्विकार एवं द्वैतशून्य हूँ–(मधुसूदन) इस प्रकार निश्चय कर **एव यः अवतिष्ठति**—जो अपने यथार्थ स्वरूप में स्थित रहता है [अथवा 'यो अनुतिष्ठति' ऐसा पाठ भी है। यहाँ 'न' को अलग कर लेना चाहिये–(मधुसूदन)] श्लोक में छन्दभंग होने के भय से आत्मनेपद (अवतिष्ठते) के स्थान में परस्मैपद (अवतिष्ठति) का प्रयोग किया गया है। 'अनुतिष्ठति' पाठ ग्रहण करने पर अर्थ ऐसा होगा–जो सकल गुणों के कार्यों के मिथ्यात्व निरूपण करने के (अनु अर्थात् अनन्तर) पश्चात् बाधितानुवृत्ति से (अर्थात् सर्वगुणों के कार्यों को बाधित कर) अपने स्वरूप में ही स्थित रहता है **न इङ्गते**—वह कभी भी व्यापारयुक्त नहीं होता है–ऐसा पुरुष 'गुणातीत' कहलाता है, इस प्रकार २५ वें श्लोक के वाक्य से इसका अन्वय है।

टिप्पणी—(१) श्रीधर—पूर्व श्लोक में गुणातीत के स्वसंवेद्य (स्वयं ही अनुभव करने योग्य) लक्षण बताकर परसंवेद्य (दूसरों के द्वारा जानने योग्य) लक्षण बताने के लिये 'वह किस प्रकार के आचरण वाला होता है ? अर्जुन के इस दूसरे प्रश्न का उत्तर तीन श्लोकों द्वारा देते हैं-**उदासीनवत् आसीनः**—उदासीन के समान

साक्षीरूप से स्थित हुआ **यः गुणैः न विचाल्यते**—गुणों के कार्यभूत सुख दुःखादि से विचलित नहीं किया जा सकता अर्थात् स्वरूपस्थिति से च्युत नहीं किया जा सकता अपितु **गुणाः वर्त्तन्ते इति एव**—गुण ही अपने कार्य में कार्य रहे हैं, इनसे मेरा कोई सम्बन्ध नहीं है, इस विवेकज्ञान से जो **अवतिष्ठति**—मौन रहता है एवं **न इङ्गते**—उस अवस्था से कभी विचलित नहीं होता है (वह गुणातीत कहा जाता है) 'अवतिष्ठति' इस क्रिया में परस्मैपद का प्रयोग है ।

(२) **शंकरानन्द**—गुणातीत विद्वान् सत्त्वादि गुणों के कार्यों में प्रवृत्त होने पर यदि द्वेष नही करता और उनकी निवृत्ति नहीं चाहता, तो 'यह सब मिथ्या ही है', ऐसा निश्चय कर क्या वह तत्-तत् गुणों की वृत्ति के अनुसार यथेष्ट आचरण करता है ? ऐसी शंका यदि हो तो यह युक्त नहीं है क्योंकि वासना नामक अविद्या ही उसकी प्रवृत्ति की हेतु है । वह अविद्या अपने कार्यों के साथ निर्विकल्प समाधिरूप अग्नि से पूर्णतया दग्ध होने के कारण वैदिक, लौकिक और अन्य स्थलों में उसकी प्रवृत्ति नहीं हो सकती किन्तु अपने स्वरूपभूत आनन्दघन आत्मा के अनुभव से ब्रह्मस्वरूप में ही निश्चल रूप से स्थित रहता है, वह किंचित् भी विकारों को प्राप्त नहीं होता, इसे ही स्पष्ट करते हैं **उदासीनवत् आसीनः गुणैः यः न विचाल्यते**—वादी एवं प्रतिवादी दोनों में से किसी एक के पक्ष का अवलम्बन न कर उन दोनों के व्यापार को तटस्थरूप से देखने वाले पुरुष को उदासीन कहते हैं । विषयों में प्रवृत्त करने वाले प्रकाश, दया, दाक्षिण्य, सत्य, विनय, राग, द्वेष, लोभ, मोहादि सत्त्वादि गुणों के तथा प्रवृत्त होने वाले देह, इन्द्रियादि एवं उनके व्यापारों का द्रष्टा स्वयं उदासीन के समान देहादि और देहादि के व्यापारों के साक्षीरूप से उनसे विलक्षण अपने आत्मा को जो विद्वान् जानता है वह प्रकाशादि सात्त्विक गुणों के द्वारा, रागादि राजस गुणों के द्वारा एवं मोहादि तामस गुणों के द्वारा आत्मनिष्ठा से विचलित नहीं होता अर्थात् बाहर की वासनाओं से बंधा हुआ पुरुष जिस प्रकार उनसे विचलित होता है ऐसे यह ब्रह्माकारावृत्ति से विचलित नहीं किया जा सकता, यही कहने का अभिप्राय है ।

प्रश्न—यदि ऐसा है तो देहयात्रा के लिये आवश्यक कर्म में यह विद्वान् कैसे प्रवृत्त होता है ? ऐसी आशंका होने पर कहते हैं—

उत्तर—गुणः वर्तन्ते इति एव—दीर्घकाल तक नित्यनिरन्तर निर्विकल्प समाधिनिष्ठा से जिसकी प्रज्ञा स्थिरीभूत (निश्चल) हो गई है ऐसा संसिद्ध ब्रह्मवित् यति "यह गुण (देह इन्द्रियादि) ही फल का अनुभव कराने वाले कर्म से काल के अनुसार प्रेरित होकर गुणों (विषयों) में प्रवृत्त होते हैं-भोजनादि क्रियायें करते हैं और उनके व्यापारों का साक्षी प्रत्यक्षरूप मैं हूँ" इस प्रकार की भावना से प्रवृत्त नहीं होता है अर्थात् सदा निष्क्रियरूप से ही स्थित रहता है। ब्रह्माकारावृत्ति से ब्रह्म में ही सदा ब्रह्म के साथ एक होकर (ब्रह्मस्वरूप में ही स्थित होकर) स्वयं गुण तथा गुणों के कार्यों के द्वारा किंचित् भी नहीं हिलता अर्थात् नहीं चलता है अर्थात् 'मैं कर्ता हूँ, मैं भोक्ता हूँ, मेरा ही यह भोग्य है' इस प्रकार कर्तृत्व एवं भोक्तृत्व आदि का अध्यास नहीं करता। 'अवतिष्ठति' यह परस्मैपद छान्दस (छन्द के लिये) है। ऐसे लक्षणों वाला जो ब्रह्मविद् यति है वह गुणातीत है, ऐसा कहा जाता है इस प्रकार आगे के श्लोक से अन्वय है। इससे यह सूचित होता है कि गुणों की प्रेरणा से देह-इन्द्रियादि के विषयों में प्रवृत्त होने पर भी उदासीनत्व तथा अविकारित्व विद्वान् के गुणातीत होने में लिङ्ग (चिन्ह) हैं। इससे 'किमाचारः' इस प्रश्न का उत्तर दिया गया है।

(३) नारायणी टीका—पूर्व श्लोक में सम्प्रवृत्त (प्राप्त) दुःख के प्रति द्वेषशून्यता तथा निवृत्त सुख के प्रति आकांक्षाशून्यता गुणातीत पुरुष का लक्षण बताया गया है। गुणातीत का आचार व्यवहार कैसा है ? यह जानने के लिये अर्जुन ने जो द्वितीय प्रश्न किया था, उसका उत्तर देते हुए श्रीभगवान् कह रहे हैं कि—(१) गुणातीत पुरुष सभी अवस्थाओं में उदासीनवत् रहता है अर्थात् विश्वप्रपंच का स्वप्न द्रश्य के समान मिथ्यात्व निश्चय कर वह सभी वस्तुओं के प्रति रागद्वेष शून्य होकर साक्षीरूप से सदा ही विद्यमान रहता है एवं जिस प्रकार निरपेक्ष पुरुष दो व्यक्तियों को कलह अथवा लड़ाई करते देखते हुए भी वह किसी पक्ष का समर्थन नहीं करता है अर्थात् उदासीन रहता है, उसी प्रकार जिसने श्रवण, मनन तथा निदिध्यासन द्वारा एकमात्र अखंड अद्वय ब्रह्मस्वरूप आत्मा का साक्षात्कार किया है एवं गुण तथा गुणों के कार्यों को केवल मायामात्र (कल्पनामात्र) जान लिया है उसकी द्रष्टि में सृष्टि, स्थिति, प्रलय (संहार) रूप तथा सुख, दुःख, मोह इत्यादि रूप गुणों के कार्यों की प्रतीति होने पर भी उनमें

उदासीनवत् (तटस्थ व्यक्ति के समान) रहना तथा उन गुण या गुणों के कार्यों से किसी प्रकार विचलित नहीं होना क्या आश्चर्य की बात है ? अतः इसप्रकार गुणातीत व्यक्ति स्थिर समुद्र के समान अपनी कल्पना से उत्पन्न हुए अनन्त गुणों की अनन्त तरङ्गो का उदय हो रहा है, अपने आप टकरा रही हैं एवं अन्त में वे सब तरंगे स्थिर समुद्र में ही लय हो रही हैं (अतः गुण ही गुणों में रह रहे हैं), इसप्रकार निश्चय कर गुणों के कार्य सुख दुःख इत्यादि से अस्पृष्ट रहकर अपने स्वरूप से कभी विचलित नहीं होता है। जिस प्रकार पर्वत में स्थित वृक्ष लता आदि वायु चलने पर हिलते-डुलते हैं परन्तु पर्वत उस वायु की क्रिया से अस्पृष्ट होकर अपनी स्थिर सत्ता में स्थित रहता है उसी प्रकार गुण से उत्पन्न हुए (सुख दुःख मोहादि से उत्पन्न हुए) भूतसमूह राग-द्वेषादि अनर्थों को प्राप्त हो रहे हैं, ऐसा देखकर भी गुणातीत विद्वान् अपने साक्षीरूप से सदा ही स्थिर धीर, निर्लिप्त एवं निर्विकाररूप से स्थित रहता है एवं उक्त स्थिर पर्वत के समान किसी से विचलित नहीं होता। [श्लोक में 'अवतिष्ठति' शब्द में छन्द भंग के भय से परस्मैपद का प्रयोग किया गया है। वस्तुतः वह 'अवतिष्ठते' शब्द है।]

[फिर—]

समदुःखसुखः स्वस्थः समलोष्टाश्मकाञ्चनः ।
तुल्यप्रियाप्रियो धीरस्तुल्यनिन्दात्मसंस्तुतिः ॥ २४ ॥

अन्वय—यः स्वस्थः सन् समदुःखसुखः समलोष्ट-अश्म-काञ्चनः तुल्य-प्रिय-अप्रियः धीरः तुल्य निन्दा-आत्मसंस्तुतिः ।

अनुवाद—जो पुरुष सुखदुःख में समान, अपने स्वरूप में स्थित, ढेला, पत्थर और स्वर्ण में समान द्रष्टि वाला, प्रिय और अप्रिय के प्रति समान, धैर्यवान, तथा अपनी निन्दा एवं स्तुति में समभाव है, वह 'गुणातीत' कहलाता है।

भाष्यदीपिका—यः स्वस्थः (सन्)—जो सर्व प्रकार द्वैत दर्शन से शून्य होने के कारण अपने आत्मा में स्थित (तथा प्रसन्न) है अर्थात् अपने अविक्रिय आनन्दस्वरूप आत्मा से कभी च्युत नहीं होता है एवं इस कारण से **सम दुःख सुखः**—जो सुख-दुःख में समान है अर्थात् जिसको सुख प्राप्ति में सुख तथा दुःख

प्राप्ति में विषाद नहीं होता है **समलोष्ट-अश्म-काञ्चनः**—मिट्टी, पत्थर, स्वर्ण जिसकी दृष्टि (विचार) में समान हो गये हैं **तुल्य-प्रिय-अप्रियः धीरः**—जो प्रिय और अप्रिय दोनों को ही समान मानता है [अर्थात् हेयोपादेयभावशून्य होने के कारण जो हित साधनत्व और अहित साधनत्व बुद्धि का विषय नहीं है, अतः सभी वस्तुएँ अपेक्षा के योग्य होने के कारण जिसके लिये प्रिय (सुख) और अप्रिय (दुःख) के साधन समान हैं—(मधुसूदन)] एवं जो 'धीर' यानी बुद्धिमान् अथवा धैर्यवान् है तथा इसी से **तुल्य निन्दा-आत्मसंस्तुतिः**—जिसके लिये (जिस यति के लिये) अपनी निन्दा (दोष-कीर्तन) तथा अपनी स्तुति (गुण-कीर्तन) समान हो गई हैं [वह गुणातीत कहलाता है', इस प्रकार २५ वें श्लोक के वाक्य से अन्वय है ।]

टिप्पणी (१) श्रीधर—सम दुःख सुखः इत्यादि आत्मसंस्तुतिः— जिसके लिये सुख दुःख समान हैं क्योंकि वह अपने स्वरूप में स्थित है, अतः जिसके लिये मिट्टी के ढेले, पत्थर और सोना समान हैं तथा सुख-दुःख के हेतुभूत प्रिय एवं अप्रिय भी जिसके लिये समान हैं तथा अपनी निन्दा एवं स्तुति भी जिसके लिये एक सी हैं, ऐसा जो धीर (बुद्धिमान्) पुरुष है वह 'गुणातीत' कहलाता है ।

(२) शंकरानन्द—यदि प्रश्न हो कि देह इन्द्रियादि जब स्वस्थ रहती हैं तो उस दशा में यह गुणातीत विद्वान् पुरुष गुणों के द्वारा आत्मनिष्ठा से विचलित नहीं होता है यह कहना ठीक है परन्तु आध्यात्मिक, आधिभौतिक, आधिदैविक दुःख के तथा निद्रा आदि अनर्थ के सम्यक् रूप से प्राप्त होने पर गुणों के द्वारा निष्ठा से विचलित होकर वह विद्वान् भी खेद तथा मोहादि को भोगता ही है ? इसके उत्तर में कहते हैं कि ऐसा कहना ठीक नहीं है क्योंकि बाहर के सुख दुःख आदि का और निन्दा स्तुति का विषय अनात्म देहादि ही हैं । 'मैं निर्विशेष, निराकार, चिदेकरस आत्मा उनका विषय नहीं हूँ ऐसी बुद्धि की निश्चलता से बाहर के सुख दुःखादि की अवस्था में भी वह अपने आत्मा में ही स्थित रहता है, अनात्म में 'मैं मेरा' इस बुद्धि से मूढ़ के समानअध्यास नहीं करता । इसे स्पष्ट करते हैं **सम दुःखसुखः**-जहाँ इन्द्रियाँ समान (हृष्ट) अर्थात् प्रसन्न होती हैं वह सुख है । जहां इन्द्रियाँ रूष्ट (अप्रसन्न) होती हैं वह दुःख है । सुख-दुःख जिसके लिये समान हैं वह समदुःखसुख अर्थात् समचित्त है । सुख और

दुःख में समत्व अर्थात् चित्त का इष्ट और अनिष्ट की भावना से रहित होना ही समचित्तत्व है अर्थात् दूसरे अज्ञानी के समान सुखदुःख के भोक्तृत्व में 'मैं भोक्ता हूँ' इस प्रकार के अध्यास के सम्बन्ध से रहित होना ही समचित्तत्व है। इसीलिये **स्वस्थः**– सब अवस्थाओं में सर्वदा अपने में ही (परमब्रह्म में ही) एकत्व अनुभव से जो स्थित रहता है वह ब्रह्मविद् ही स्वस्थ कहा जाता है। अतः इसप्रकार स्वस्थ होने के कारण जन्मादि दुःखों से तथा आध्यात्मिक, आधिदैविक तथा आधिभौतिक दुःखों से वह तत्त्वदर्शी पुरुष अभिभूत नहीं होता है अर्थात् ये सब दुःख उसे दबा नहीं सकते हैं। उससे अन्य अज्ञानी तो अस्वस्थ (बहिर्मुख) है एवं इसीलिये जन्मादि दुःखों से तथा आध्यात्मिक (देह, इन्द्रिय, अन्तःकरण) आधिभौतिक आदि दुःखों से (अनात्म देहादि के धर्म से) दबाया जाता है। विक्षेप रहने परभी वह ब्रह्मस्वरूप से ही स्थित रहता है–उसकी ब्रह्माकार वृत्ति से कभी च्युत न होना ही स्वस्थत्व है, केवल धैर्य से उसका (विक्षेपका) सहन करना स्वस्थत्व नहीं है इसलिये **तुल्यप्रियाप्रियः**—प्रिय (इष्ट), अप्रिय (अनिष्ट) ये दोनों उसको समान हैं अर्थात् दोनों में वह सम है। प्रश्न होगा कि प्रिय, अप्रिय तथा सुख-दुःख में विद्वान् सम नहीं हो सकता क्योंकि अत्यन्त मधुर और अति कड़ुवे द्रव्य का खाने वाला तथा प्रचंड गर्मी एवं सर्दी में बैठने वाले विद्वान् को भी इष्टत्व (प्रियत्व) अनिष्टत्व (अप्रियत्व) की उपलब्धि दुर्वार है अर्थात् इसप्रकार की उपलब्धि अवश्य ही होगी, अतः उसके अनुभव से विषम बुद्धि भी होगी। इसपर कहते हैं कि ऐसा कहना युक्त नहीं है क्योंकि सुख-दुःख एवं प्रिय-अप्रिय के प्राप्त होने पर विद्वान् की भी विषम-बुद्धि हो जाती है। क्योंकि ग्राह्य के (जो वस्तु ग्रहण की जाती है उसके) भेद से ग्रहण का भी भेद होता है, तथापि ब्रह्मनिष्ठ की विषम बुद्धि नहीं होती है क्योंकि कारण का अभाव है। विषम बुद्धि का कारण है बुद्धि का विषम पदार्थ से संयोग। इसप्रकार संयोग होने पर ही विषय के सम्बन्ध में इष्टत्व एवं अनिष्टत्व का ज्ञान होता है। इष्टत्व तथा अनिष्टत्व का ज्ञान होने पर विषम बुद्धि होती है, ऐसा नहीं होने से विषम बुद्धि के उदय की सम्भावना नहीं हो सकती। कहने का अभिप्राय यह है कि दीर्घकाल तक नित्य निरन्तर समाधि के अभ्यास के बल से बुद्धि की ब्रह्माकारता प्राप्त होने पर तथा बुद्धि की वृत्ति के सदा

ब्रह्म में ही निश्चलरूप से स्थित होने पर बुद्धि का विषय से सम्बन्ध नहीं हो सकता है। उस संयोग का अभाव होने पर इष्टत्व व अनिष्टत्व का ज्ञान नहीं हो सकता और उस ज्ञान के न होने से ब्रह्मनिष्ठ विद्वान् की विषम बुद्धि नहीं होती। अतः सुख-दुःख, प्रिय अप्रिय में विद्वान् का समत्व (समबुद्धि) होना कोई विरूद्ध बात नहीं है। यदि कहो कि बलवान् विक्षेप के कारण को प्राप्त होने पर भी बुद्धि की ब्रह्मस्वरूप में स्थिति कैसे हो सकती है? इसपर कहते हैं कि अत्यन्त अभ्यास ही उसमें कारण है—औषधि या मंत्र या लययोग उसमें कारण नहीं है। अनभ्यास से ही सत्पुरूष भी वहिर्मुख होते हैं—केवल विवेकरहित नहीं (केवल विवेक से रहित होने पर ही वहिर्मुख होगा ऐसी बात नहीं है) इसलिये गीता में भी 'अभ्यासेन तु कौन्तेय' इस प्रकार के कथन से श्रद्धा, भक्तिपूर्वक समाधि के अभ्यास से चित्त का बाहर का अवलम्बन न रहने के कारण ब्रह्मनिष्ठा सिद्ध होती है। अतः सर्वत्र अभ्यास ही बलवान् कारण है क्योंकि 'अभ्यासात्पक्वविज्ञानः कैवल्यं लभते नरः' (अभ्यास से पक्वविज्ञानवाला नर कैवल्य को प्राप्त होता है) ऐसी स्मृति है। जो प्रिय और अप्रिय में समत्व कहा था उसको स्पष्ट करते हैं **सम-लोष्ट-अश्म काञ्चनः**—लोष्ट (मिट्टी का ढेला), पत्थर एवं काञ्चन (सोना) उसको सम (प्रीति और अप्रीति के अविषय) हैं अर्थात् लोष्ट, काञ्चन इत्यादि के प्रति न उसका प्रीतिभाव है और न तो अप्रीतिभाव ही है अथवा लोष्ट .अश्म (पत्थर) और काञ्चन को जो ब्रह्मस्वरूप आत्मा की दृष्टि से देखता है एवं इसलिये जो सर्वत्र समभाव को प्राप्त हुआ है ऐसे विद्वान् के सुख दुःख, प्रिय-अप्रिय आदि में सर्वत्र समदर्शन की सिद्धि में हेतु क्या है? उसे कहते हैं **धीरः**—आभास की कल्पित, मिथ्या तथा प्रतीतिमात्र विषय की वासना से बहिर्मुखबुद्धि को जो निग्रह करता है (रोकता है) अर्थात् अपने आत्मा के आकार से स्थापन करता है वह धीर है। 'धियं राति निगृह्णाति स्वाकारेणैव स्थापयतीति धीरः—अर्थात् अपनी स्वरूपनिष्ठा से जिसकी बुद्धि वृत्ति व्यभिचारी (विचलित) नहीं होती है वह धीर है अतः वह **तुल्यनिन्दा-आत्म-संस्तुतिः**—निन्दा में (दोष कीर्तन में) तथा आत्मसंस्तुति में अर्थात् आत्मा (देहादि) के सम्यक् प्रकार स्तुति में (गुण कीर्तन में) तुल्य (सम) है क्योंकि वह जानता है निन्दा या स्तुति अनात्म देहादि को ही विषय करती हैं तथा आत्मा

(अपने स्वरूप) उनदोनों का अविषयीभूत है अर्थात् निन्दा-स्तुति आत्मा को विषय (स्पर्श) करने में असमर्थ हैं इसप्रकार पुरूष गुणातीत कहलाता है सुख तथा दुःख, प्रिय एवं अप्रिय आदि में सम होना विद्वान् को जीवन्मुक्ति-अवस्था में पर प्रत्यक्ष लिङ्ग (लक्षण) है—यह सूचित किया गया है।

(३) नारायणी टीका—गुणातीत के आचरण या व्यवहार जिससे दूसरे भी उसकी अवस्था जान सकें ऐसा परप्रत्यक्षलिङ्ग (लक्षण) कहा जा रहा है—जो गुणातीत है वह स्वस्थ होता है अर्थात् सर्वप्रकार द्वैत बुद्धि से रहित होकर अपने आनन्द-स्वरूप आत्मा में ही सदा स्थित रहता है (उससे कभी च्युत नहीं होता है)। अतः सर्वत्र ब्रह्मस्वरूप आत्मा का ही दर्शन करते हुए वह राग-द्वेष से पूर्णतया रहित हो जाता है एवं सुख तथा दुःख में समत्व (समभाव) से विद्यमान (स्थित) रहता है क्योंकि वह सम्यग्दर्शन के बल से जान लेता है कि सुख-दुःख मायाकल्पित मिथ्या अनात्मा (अन्तकरण) का धर्म है एवं वे सब मायामात्र होने के कारण ज्ञानी की तत्त्वदृष्टि से सुख-दुःख की कोई पारमार्थिक सत्ता न रहने के कारण उसे सुख-दुःख का बोध नहीं होता है। केवल अन्तःकरण के धर्म सुख-दुःख में ही वह समभाव नहीं रहता है परन्तु ब्राह्यविषय में भी उसकी मिथ्यात्वबुद्धि रहने के कारण उसकी लोष्ट (मिट्टी का पिण्ड), अश्म (पत्थर) एवं काञ्चन (सुवर्ण) में हेय-उपादेयत्व बुद्धि नहीं रहती है अर्थात् उसके लिये लोष्ट या अश्म (पत्थर) न हेय (परित्याज्य) है और न तो काञ्चन ही उसके लिये उपादेय ग्राह्य (ग्रहण योग्य) है। विषय में विषम बुद्धि रहने पर ही हेय-उपादेयत्व बुद्धि सम्भव है परन्तु सर्वत्र ब्रह्मात्मदर्शी पुरुष के लिये इसप्रकार बुद्धि का अभाव होने के कारण लोष्ट, अश्म तथा काञ्चन में उसकी समदृष्टि ही रहता है। 'समदुःख-सुख' शब्द से आभ्यान्तरिक (आन्तरिक) सब वृत्तियों में गुणातीत पुरुष का एकत्व अनुभव सूचित किया गया है। 'समलोष्टाश्मकाञ्चन' शब्द से उसकी बाह्य सर्व दृश्यपदार्थों में एकत्वबुद्धि सूचित की गई है। इस कारण से ही वह गुणातीत पुरुष 'तुल्य प्रियाप्रिय' भी है। अन्तःकरण की वृत्तियों के बाह्य विषय के साथ संयोग होने से इष्टत्व ज्ञान उत्पन्न होने पर उस विषय में प्रियत्वबोध होता है और अनिष्टत्व ज्ञान उत्पन्न होने पर वह वस्तु अप्रिय प्रतीत होती है। परन्तु जो नाम, रूप

तथा क्रियात्मक विश्वप्रपंच को मिथ्या (कल्पित) जानता है एवं सर्वत्र एक ही आत्मा की सत्ता का अनुभव करता हैं, उसके लिये इसप्रकार प्रियत्व या अप्रियत्व का बोध रहना असम्भव है। अतः अज्ञानी की दृष्टि से इसप्रकार इष्ट अनिष्ट, प्रिय-अप्रिय रूप भेद-बुद्धि रहती है परन्तु उस प्रकार के समदर्शी पुरुष प्रिय एवं अप्रिय तथा इष्ट और अनिष्ट के प्राप्त होने पर भी समत्व में ही प्रतिष्ठित रहता है। इसी कारण से वह 'तुल्य निन्दात्मसंस्तुति' भी है। निन्दा (दोषकीर्तन) तथा संस्तुति (सम्यक्प्रकार से गुण-कीर्तन) का विषय अनात्म (आत्मा से विलक्षण) देहादि ही होते हैं। यद्यपि अज्ञानी उन देहादि को ही आत्मा मानते हैं, किन्तु अनात्म सब वस्तुएँ ही मिथ्या होने के कारण ज्ञानी की दृष्टि में जिस देहादि की निन्दा-स्तुति की जाती है तथा जो निन्दा-स्तुति करते हैं एवं निन्दास्तुतिरूप क्रियाएं ये तीनों ही स्वप्न दृश्यवत् हैं तथा इनकी कोई पारमार्थिक सत्ता नहीं है। वह इन सब के अधिष्ठानरूप नित्य सत्य अखण्ड अद्वय आत्मा को 'सर्वत्र समरूप से दर्शन करते हुए उसमें ही स्थित रहता है। प्रिय तथा अप्रिय विषय के साथ विषयों के संयोग से जो रागद्वेषरूप फल प्राप्त होता है एवं निन्दा तथा आत्मसंस्तुति' से देहादि में बाह्य विषय से जो प्रतिक्रियाएं होती हैं वे आत्मसंस्थ (आत्मा में स्थित) गुणातीत पुरुष को बिन्दुमात्र भी स्पर्श नहीं कर सकते, यह कहा गया है किन्तु दीर्घकाल पर्यन्त श्रवण, मनन, निदिध्यासन के पुनः पुनः अभ्यास द्वारा जिसका चित्त बाह्य विषयों से पूर्णतया निवृत्त होकर आत्मा में निरन्तर स्थिति लाभ करने की सामर्थ्य को प्राप्त नहीं हुआ है, वह सर्वत्र सम-बुद्धि होकर गुणातीत (जीव-न्मुक्ति) की अवस्था प्राप्त नहीं कर सकता है, इसे स्पष्टरूप से सूचित करने के लिये ही 'धीर' शब्द है। जो बाह्य विषय से धी अर्थात् बुद्धि को निगृहीत कर अपने आत्मा में ही निश्चल भाव से स्थापित कर सकता है, वह धीर है।

[गुणातीत के और विशेष लक्षण बताते हैं—]

मानापमानयोस्तुल्यस्तुल्यो मित्रारिपक्षयोः ।
सर्वारम्भपरित्यागी गुणातीतः स उच्यते ॥ २५ ॥

अन्वय—यः मान-अपमानयोः तुल्यः मित्र-अरिपक्षयोः तुल्यः स र्व-आरम्भ परित्यागी च स गुणातीतः उच्यते ।

अनुवाद—जो मान—अपमान में समान, मित्र और शत्रु दोनों ही पक्षों में समान और समस्त आरम्भों (कर्मों) का परित्याग करने वाला होता है वह गुणातीत कहलाता है।

भाष्यदीपिका—यः मानापमानयोः तुल्यः—जो मान (सत्कार या आदर) प्राप्त होने से हर्ष से शून्य अथवा अपमान (तिरस्कार या अनादर प्राप्त होने पर विषाद से शून्य अर्थात् दोनों अवस्थाओं में ही समभाव या निर्विकार से स्थित रहता है। [प्रश्न होगा कि पूर्वश्लोक में 'तुल्यनिन्दात्मसंस्तुति' कहकर फिर यहाँ 'मानापमानयोः तुल्यः' कहने पर क्या पुनरोक्ति दोष नहीं हुआ है? क्योंकि इन दोनों पदों का अर्थ तो एक ही प्रतीत होता है। इसके उत्तर में कहा जायगा कि—नहीं, निन्दा एवं स्तुति तो शब्दरूप होते हैं अर्थात् शब्दों द्वारा जो अनादर या आदर प्रकाश किया जाता है उसे निन्दा या स्तुति कहते हैं किन्तु मान तथा अपमान तो शव्द के विना भी शरीर और मन के व्यापार विशेष हैं अर्थात् शब्दों से प्रकाश न करके भी शरीर और मन के व्यापार विशेष द्वारा (अर्थात् आकार, इङ्गित, चेष्टा, प्रवृत्ति आदि शब्दरहित आचरण द्वारा) जो आदर या अनादर किया जाता है उसे मान या अपमान कहा जाता है, यही स्तुति निन्दा एवं मान अपमान का भेद है। (मधुसूदन)] **मित्र-अरिपक्षयोः तुल्यः**—तथा मित्र और शत्रु दोनों पक्षों के लिये तुल्य है [दोनों पक्षों में समान है अर्थात् मित्र पक्ष के समान शत्रु-पक्ष के भी द्वेष का विषय नहीं है अथवा स्वयं ही उनके प्रति अनुग्रह एवं निग्रह से शून्य ही (मधुसूदन)] यद्यपि कोई-कोई पुरुष (तत्त्वदर्शी संन्यासी) अपने अभिप्राय से तो सबके प्रति ही उदासीन होते हैं क्योंकि वह तो सर्वत्र एक ही आत्मा का दर्शन करते हैं। अतः उनके लिये न तो कोई शत्रु है और न तो कोई मित्र ही है परन्तु दूसरों के अभिप्राय के अनुसार अर्थात् अज्ञान की दृष्टि से कोई कोई तत्त्वदर्शी पुरुष को सेवा आदि कर उनको मित्र समझते हैं एवं कोई-कोई निन्दा कर उनको शत्रु रूप से देखते हैं। इसलिये कहते हैं कि जो मित्र तथा शत्रु दोनों के लिये ही समान है अर्थात् समदृष्टि सम्पन्न है **सर्वारम्भपरित्यागी**—तथा जो समस्त आरम्भों का त्याग करने वाला है दृष्ट और अदृष्ट (इहलौकिक या पारलौकिक) फल के लिये किये जाने वाले कर्मों का नाम आरम्भ है ऐसे समस्त आरम्भों को त्याग करने का

जिसका शील (स्वभाव) है वह 'सर्वारम्भपरित्यागी' है अर्थात् जो देहधारणमात्र के लिये आवश्यक कर्मों के बिना समस्त कर्मों का त्याग कर देने वाला वह सर्वारम्भपरित्यागी है **गुणातीतः स उच्यते**—इस प्रकार जो 'उदासीनवत् आसीनः' इत्यादि श्लोकों से (१४।२३) कहे हुए प्रकार के आचरण वाला पुरुष है, वह 'गुणातीत' कहलाता है। 'उदासीनवत्' यहां से लेकर 'गुणातीतः स उच्यते' (१४।२३–२५) यहाँ तक जो भाव बतलाये गये हैं वे सब जब तक प्रयत्नसाध्य हैं तब तक मुमुक्षु संन्यासी के लिये गुणातीतत्व की प्राप्ति के साधनरूप से अनुष्ठान करने योग्य हैं और जब तत्त्वज्ञान उत्पन्न होता है तब वे उदासीनत्वादि समस्त भाव गुणातीत पुरुष में स्थिर (अयत्नसिद्ध अर्थात् स्वभावसिद्ध) हो जाते हैं एवं उसी अवस्था में तो गुणातीत संन्यासी के वे स्वसंवेद्य लक्षण (अपने से अनुभव योग्य लक्षण) बन जाते हैं। कहने का अभिप्राय यह है कि सिद्ध पुरुष का जो स्वाभाविक लक्षण है वही मुमुक्षु के लिये साधन (प्रयत्न से सम्पादन करने योग्य) है। अतः गुणातीत के लक्षणों का वर्णन करके गुणातीतत्वप्राप्ति के इच्छुक यति को ये साधन भी इन तीन श्लोकों में बताये गये हैं—ऐसा समझना चाहिए।

टिप्पणी—(१) श्रीधर—यः मान-अपमानयोः तुल्यः इत्यादि—जो मान तथा अपमान में समान है एवं मित्र के पक्ष में तथा शत्रु-पक्ष में भी समान है तथा दृष्ट (प्रत्यक्ष फल वाले) समस्त आरम्भों (उद्यमों) का त्याग कर देना ही जिसका शील (स्वभाव) है वह इस प्रकार ('उदासीनवत्' से लेकर 'सर्वारम्भपरित्यागी' तक) बताये हुए आचरणों से युक्त पुरुष गुणातीत कहा जाता है।

(२) **शंकरानन्द**—यह 'गुणातीत' है इस प्रकार विद्वान् में गुणातीतत्व जानने के लिये अन्य लक्षण बताते हुए तथा 'किमाचारः' इस प्रश्न का उत्तर देते हुए श्रीभगवान् जीवन्मुक्त के लक्षणों का उपसंहार करते हैं—**मान-अपमानयोः तुल्यः**—उपचार से (सामग्री से) बहुकरण (सत्कार करना) उपचार से (अनादर से) तिरस्कार करना अपमान है। उन दोनों में तुल्य अर्थात् मान–अपमान ये दोनों अपने प्रारब्धवश देह को ही प्राप्त होते हैं किन्तु देह में आत्मभावना न होने से मान-अपमान दोनों में ही जो विक्रिया रहित है अर्थात् पूजा होने पर मुख के विकास एवं अपमान होने पर मुख के

वैवराय (विकृतवर्ण) आदि विकारों से रहित होने के कारण जिस जीवन्मुक्त का सम-चित्तत्व ही लक्षण है तथा **मित्र-अरिपक्षयोः तुल्यः**—यद्यपि सबको ब्रह्म ही देखने वाले ब्रह्मवित् यति का प्रिय-अप्रिय, मित्र-अमित्र आदि में भेददृष्टि नहीं हो सकती तथापि इष्ट के समान जिसका वह उपभोग करता है वह उसको प्रिय है, अनिष्ट के समान जिसका वह त्याग करता है वह उसे अप्रिय है अथवा जो ब्रह्मविद् के आचार को देखकर अनुमोदन करता है (प्रसन्न होता है) वह उसका मित्र पक्ष है एवं जो अनुमोदन नहीं करता है (प्रसन्न नहीं होता है) वह शत्रु-पक्ष है, ऐसा लोक दृष्टि से सम्भव होता है। उन मित्र और शत्रु-पक्ष वाले दोनों में अर्थात् केवल अपनी बुद्धि के दोष से मित्र एवं अमित्र (शत्रु) भाव को प्राप्त हुए उन दोनों प्रकार के प्राणियों में जो तुल्य अर्थात् समदर्शी है। [सर्वत्र समदर्शन ही जीवन्मुक्त का परप्रत्यक्ष लिङ्ग (लक्षण) है] फिर **सर्वारम्भपरित्यागी**—'मुझे यह चाहिए' इस प्रकार फल की कामना से जिनका आरम्भ किया जाता है वे आरम्भ अर्थात् कर्म हैं अर्थात् दृष्ट व अदृष्ट फल जिनसे उत्पन्न होते हैं वे श्रौत, स्मार्त और उपासनारूप सम्पूर्ण आश्रमोचित कर्मों को (शरीर स्थिति के लिये आवश्यक कर्मों से भिन्न समस्त लौकिक कर्मों को) 'सर्वारम्भ' कहा जाता है) सर्व शब्द से इन सब कर्मों का ग्रहण किया जाता है)। ब्रह्मभाव की प्राप्ति से अर्थात् पूर्ण, अनन्त ब्रह्मस्वरूपता की प्राप्ति से सकल कामनाओं की पूर्ति हो जाती है। अतः सर्वा-रम्भ से साध्य (प्राप्त होने वाली) कोई वस्तु न रहने के कारण सर्वारम्भसाध्य-शून्यत्व बुद्धि से कर्मों का त्याग करने का जिसका शील (स्वभाव) है वह 'सर्वारम्भपरित्यागी' है। ब्रह्मभाव को प्राप्त हुए आप्तकाम, श्रोत्रिय, अकाम (निष्काम) ब्रह्मविद् के लिये कर्मों से ऐसा कुछ भी प्राप्तव्य नहीं है जिसके रहने से कर्मों की कर्तव्यता प्राप्त हो। अतः कर्मों से प्राप्तव्य विषयों के न होने से सर्वारम्भपरित्याग युक्त ही है। यदि कोई शंका करे कि कर्मों से साध्य तथा उपासना से साध्य सार्वभौम आदि से लेकर ब्रह्मातक उत्तरोत्तर शतगुण आनन्द विशेष विद्वान् के चाहने योग्य है ही तो ऐसा कहना ठीक नहीं है क्योंकि नित्य, अखण्ड, ब्रह्मानन्दरस की अनुभूति जिन विद्वानों को प्राप्त हुई है उनकी ब्रह्मलोक के आनन्द-विशेष की भी इच्छा हो नहीं सकती क्योंकि उस ब्रह्मलोक आदि का भोग क्रिया से उत्पन्न होते हैं एवं जो क्रिया से प्राप्त होने वाला है उसका

नाश भी अवश्यम्भावी है। अतः उन सब आनन्दविशेष के अनित्य, अल्प एवं मिथ्या होने से वे विद्वान् की आशा के (इच्छा के) विषय नहीं हो सकते। फिर 'एतस्यैवानन्द-स्यान्यानि भूतानि मात्रामुपजीवन्ति' (इस आनन्द की केवल एक ही मात्रा का अन्य प्राणी उपभोग करते हैं) इस श्रुतिवाक्य के अनुसार वे सब आनन्द भी ब्रह्मानन्द के अन्तर्गत हैं। इसलिये जिस प्रकार 'सौ में पचास' अपने आप अन्तर्भूत है उसी प्रकार ब्रह्मानन्द की प्राप्ति से समस्त आनन्द की प्राप्ति हो जाने से सर्वात्मभाव को प्राप्त ब्रह्मविद् महात्मा के लिये कुछ प्राप्तव्य अवशिष्ट नहीं रहता क्योंकि एक ही पुरुष में सार्वात्म्यसिद्धि और प्राप्तव्य का शेष, ये दोनों नहीं रह सकते इसलिये ब्रह्मविद् के लिये सर्वारम्भपरित्याग अर्थात् सर्वकर्मसंन्यास युक्त ही है, यह सिद्ध होता है। इससे 'किमाचारः' इस प्रश्न का 'पूर्णवृत्ति से सर्वत्र औदासीन्य के बिना ब्रह्मविद् यति का अन्य कुछ भी आचरण नहीं है' यह उत्तर दिया गया है। अतः यह सूचित होता है कि निष्कर्मत्व विद्वान् की जीवन्मुक्त-अवस्था में परप्रत्यक्ष लिङ्ग (लक्षण) है। अतः उक्त समदुःखत्वादि लक्षणों से जो लक्षित है वही गुणातीत है। जिस प्रकार परदेह में आत्मभाव नहीं रहता है उसी प्रकार गुणों में (देह-इन्द्रियादि में) आत्मा का जो प्रतिविम्ब (परछाई) अर्थात् चिदाभास पड़ता है उसमें आत्मभाव को छोड़ कर गुणों के कार्य से विलक्षण उनके धर्म तथा कर्मादि से अस्पष्ट एवं अपने यथार्थ स्वरूप जो परम् ब्रह्म है उसमें स्थित होकर प्रकाश, प्रवृत्ति, मोह का जो अतिक्रमण करता है वह गुणातीत कहलाता है। जीवन्मुक्त ब्रह्मविद् यति गुणों का और गुणों के कार्यों का अविषय है। इसलिये उसके लक्षणों को जानने वाले पुरुषों द्वारा 'यह गुणातीत है' ऐसा कहा जाता है।

(३) **नारायणी टीका**—जो तत्त्वदर्शी पुरुष सर्वत्र ब्रह्मदर्शन करने के कारण मान तथा अपमान में तुल्यबुद्धि होता है अर्थात् मान (सत्कार) प्राप्त होने पर भी हर्षित (प्रसन्न) नहीं होता है एवं अपमान (तिरस्कार) प्राप्त होने पर भी विपन्न (दुःखी) नहीं होता है अर्थात् उभय-अवस्था में ही विकार शून्य रहता है तथा मित्र एवं अरि (शत्रु) इन उभयपक्ष में भी समबुद्धि सम्पन्न (राग-द्वेष से शून्य) होता है एवं जो ऐहिक इस लोक में तथा पारलौकिक (परलोक में) जितनी वस्तुएँ कामना के योग्य हैं वे सब कल्पित तथा मिथ्या हैं, ऐसा समझकर सर्वप्रकार से आकांक्षा-

शून्य (कामनारहित) होने के कारण उन वस्तुओं की प्राप्ति के लिये जिन कर्मों की आवश्यकता होती है उनका परित्याग कर दिया है अर्थात् उसप्रकार जो सर्वारम्भ का (सर्व कर्म या उद्यम का) परित्यागी है उसे (उक्त विशेषण युक्त पुरुष को) गुणातीत कहा जाता है।

चौबीसवें श्लोक में उक्त निन्दा-स्तुति एवं वर्तमान श्लोक में उक्त मान अपमान एकार्थबोधक नहीं हैं क्योंकि निन्दा-स्तुति केवल शब्द द्वारा होती है और मान-अपमान शारीरिक या मानसिक व्यापार द्वारा भी सम्भव होता है इसलिये द्विरुक्ति (पुनरुक्ति) दोष नहीं हुआ है। सर्वत्र ब्रह्मदर्शी पुरुष की 'यह मेरा शत्रु है, यह मेरा मित्र है' इस प्रकार की बुद्धि का रहना असम्भव है। अतः यहाँ शत्रु तथा मित्र शब्द दूसरे की दृष्टि का अवलम्बन कर कहे गये हैं क्योंकि जो इस प्रकार तत्त्वदर्शी की निष्कपट भाव से सेवा करते हैं उनको दूसरे लोग उस महात्मा का मित्र मानते हैं और जो उस ज्ञानी पुरुष को दुःख पहुँचाते हैं उनको उस महात्मा के अरि (शत्रु) मानते हैं। किन्तु सम्यक्-दर्शी महात्मा पूर्वश्लोक में उक्त प्रकार से गुण गुणों में रह रहे हैं अर्थात् गुण से उत्पन्न हुए मायिक शरीर दूसरे एक मायारचित शरीर से मित्रता अथवा शत्रुता कर रहे हैं, इस प्रकार सोचकर इन दोनों के अधिष्ठानस्वरूप नित्य सत्य आत्मा में अविचलित भाव से सदा ही स्थित रहता है। अतः दूसरे की दृष्टि में शत्रु-मित्र होने पर भी सम्यग् दर्शी पुरुष की दृष्टि में दोनों से समत्व भाव का अभाव नहीं होता है फल की वासना न रहने से कर्म का प्रयोजन नहीं रहता है। काम्यवस्तु मे सत्यत्व बुद्धि नहीं रहने पर वासना का उदय होना असम्भव है। अतः जिसने समस्त विश्व-प्रपंच में मिथ्यात्व बुद्धि निश्चय कर श्रवण, मनन, निदिध्यासन से आत्मा में सम्यक् प्रकार से स्थिति लाभ किया है, उसके लिये सब आरम्भ का (कर्म या उद्यम का) परित्याग स्वाभाविक ही है अर्थात् अपनी इच्छा से उसके द्वारा कोई कर्म होना असम्भव है यद्यपि उसका शरीर प्रारब्ध कर्म से मृत्युपर्यन्त स्वाभाविक कर्म करता रहेगा। इसप्रकार २२ से २५ वें श्लोक तक कहे गये विशेषणों से युक्त संन्यासी को गुणातीत कहा जाता है। अतः संक्षेप से गुणातीत के लक्षण इस प्रकार हैं—(१) उदासीनत्व [राग-द्वेष से रहित तटस्थत्व (निरपेक्षत्व)] (२) गुणों द्वारा अपनी स्वरूपस्थिति से विचलित न होना। (३) अद्वितीय, निर्विशेष, शुद्ध चैतन्यस्वरूप आत्मा में स्थित रहकर मायारचित प्रपंच लीला में केवल

गुण ही परस्पर क्रिया कर रहे हैं, इसप्रकार निश्चय बुद्धि द्वारा गुणों के द्वारा किसी प्रकार भी विचलित न होना। (४) सुख-दुःख, प्रिय, लोष्ट-अश्म-काञ्चन, निन्दा-स्तुति, मान-अपमान शत्रु-मित्र इत्यादि विरुद्ध वस्तुओं में सदा समत्वभाव रखना। (५) सर्व कर्मों का परित्याग अर्थात् अपनी इच्छा से किसी कर्म का उद्योग न करना। ये सब गुणातीत के स्वाभाविक लक्षण हैं अतः गुणातीत होने के इच्छुक साधक के लिये वे साधन हैं।

['इन तीनों गुणों का वह किस प्रकार (किस उपाय से) अतिक्रमण करता है'? इस तीसरे प्रश्न का उत्तर देते हैं-]

मां च योऽव्यभिचारेण भक्तियोगेन सेवते।
स गुणान्समतीत्यैतान्ब्रह्मभूयाय कल्पते ॥ २६ ॥

अन्वय—यः च अव्यभिचारेण भक्तियोगेन मां सेवते, स एतान् गुणान् समतीत्य ब्रह्मभूयाय कल्पते।

अनुवाद—जो पुरुष अव्यभिचार (अनन्य) भक्तियोग के द्वारा मेरा सेवन करता है वह इन गुणों का सम्यक्प्रकार से उल्लंघन (अतिक्रमण) कर ब्रह्मभाव (मोक्ष) प्राप्त करने में समर्थ हो जाता है।

भाष्यदीपिका—यः च—जो संन्यासी या कर्मयोगी [यहाँ 'च' शब्द तु (किन्तु) अर्थ में है अर्थात् जो ज्ञानमार्ग का अवलम्बन कर साधन करते हैं वह बहु प्रयत्न से गुणातीत होकर जीवन्मुक्त की अवस्था को प्राप्त होते हैं किन्तु मेरा अव्यभिचारी (अनन्य) भक्त मेरे अनुग्रह से ही उसी अवस्था को अनायास प्राप्त होते हैं, यह निर्देश करने के लिये 'च' (किन्तु) शब्द है। मुख्य (प्रधान) तथा अमुख्य (गौण) अधिकारी भेद से 'यः' शब्द का अर्थ यथाक्रम से संन्यासी या कर्मयोगी हो सकता है। **अव्यभिचारेण भक्तियोगेन मां सेवते**—सब भूतों के हृदय में स्थित मुझ परमेश्वर नारायण को कभी व्यभिचरित (विचलित) न होने वाले (अव्यभिचारी) भक्तियोग द्वारा सेवन करता है [ईश्वर, नारायण, समस्तभूतों के अन्तर्यामी, माया से क्षेत्रज्ञता को प्राप्त परमानन्दघन भगवान् वासुदेव मेरा अव्यभिचार (परम प्रेमरूप) भक्तियोग से (जिसका बारहवें अध्याय में वर्णन किया गया है उस भक्तियोग से) सेवन करता है

अर्थात् बाह्य समस्त विषयों के चिन्तन का त्याग कर सदा मेरा ही चिन्तन करता है-(मधुसूदन)। भक्ति का अर्थ है परमप्रेम, उस परमप्रेम से ही भगवान् के साथ योग होता है अर्थात् जीव और ब्रह्म का एकत्व अनुभव होता है, इसलिये यह भक्तियोग कहलाता है-(आनन्दगिरि) अथवा भक्ति ही कैवल्यसिद्धि (मोक्षप्राप्ति) का सर्वोत्कृष्ट योग अर्थात् उपाय है, इसलिये भी इसे भक्ति-योग कहा जाता है।] अतः इस प्रकार भक्ति-योग द्वारा अर्थात् निरन्तर परमप्रेमपूर्वक मुझ भगवान् में मन समाहित कर जो मेरा सेवन करता है (सर्वदा स्मरण करता है) **स एतान् गुणान् समतीत्य**—वह मेरा भक्त मेरे अनुग्रह से सम्यग्ज्ञान सम्पन्न होकर जीवित अवस्था में ही ऊपर कहे हुए इन गुणों का सम्यक् प्रकार से अतिक्रमण करके [अर्थात् 'अखण्ड, अद्वय एक मैं ही परमार्थसत्तारूप से सर्वदा एवं सर्वत्र विराजमान हूँ', इस प्रकार अद्वैत-दर्शन द्वारा गुणों तथा गुणों के कार्यों को बाधकर (मिथ्यात्व निश्चय द्वारा त्यागकर) **ब्रह्मभूयाय**—'भूयः' शब्द का अर्थ है भवन (होना) अतः 'ब्रह्मभूयाय' शब्द का अर्थ है ब्रह्मभवन के लिये (ब्रह्मत्व अर्थात् मोक्ष की प्राप्ति के लिये) अर्थात् जीवित अवस्था में ही ब्रह्मस्वरूप आत्मा में स्थिति के लिये **कल्पते**—समर्थ होता है। कहने का अभिप्राय यह है कि इस प्रकार भगवान् का परमभक्त गुणातीत होकर ही विदेह कैवल्यस्वरूप (ब्रह्मभाव) की प्राप्ति के योग्य होता है-दूसरा नहीं।]

टिप्पणी—(१) **श्रीधर**—इन तीनों गुणों से किस उपाय के द्वारा अतीत होता है। इस प्रश्न का उत्तर देते हैं—**यः मां च अव्यभिचारेण भक्तियोगेन सेवते**—केवल श्रीनारायण नामक मुझ परमेश्वर का ही अव्यभिचारी (ऐकान्तिक-अविचलित) भक्ति-योग के द्वारा जो सेवन (निरन्तर चिन्तन) करता है। [यहाँ 'च' शब्द अवधारणार्थ अर्थात् केवल या निश्चय के अर्थ में है। केवल मेरे बिना दूसरे का जो चिन्तन नहीं करता है, यह भाव सूचित करने के लिये यहाँ 'च' शब्द है] **स एतान् गुणान् समतीत्य**-वह इन गुणों को पूर्णतया अतिक्रमण करके (लांघकर) **ब्रह्मभूयाय कल्पते**—ब्रह्मभाव (मोक्ष) के लिये योग्य समर्थ होता है।

(२) **शंकरानन्द**—किसप्रकार से वह विद्वान् उन तीनों गुणों का अतिक्रमण करता है ? ऐसा जो तीसरा प्रश्न अर्जुन ने किया था, उसका उत्तर कहते है—**यः मां**

च–[यहाँ 'च' शब्द तु (किन्तु) के अर्थ में है। अन्य देवता आदि के भक्तों से भगवान् के भक्तों की विलक्षणता सूचित करने के लिये 'च' शब्द है।] जो ब्रह्मविद् यति तीव्र मोक्ष की इच्छा से वासनाद्वारा (वासनायुक्त मन की कल्पना द्वारा) उत्पन्न हुए सम्पूर्ण बाह्यप्रपंच का त्यागकर अत्यन्त वैराग्य से युक्त होकर तथा एकमात्र भगवान् में ही बुद्धि के समाधानादि साधन-सम्पत्ति से युक्त होकर मुझको (प्रत्यगभिन्न, निर्विशेष, निराभास, अखण्ड, चिदेकरस, परिपूर्ण परमब्रह्म को **अव्यभिचारेण भक्तियोगेन**— अव्यभिचारी भक्ति-योग से ध्येय से भिन्न अन्य कोई विषय का उल्लेख न कर चित्त का अखण्ड रूप से ध्येय के आकार में आकारित होकर जो परिणाम-विशेष होता है वह भक्ति है अर्थात् ध्येय के सम्बन्ध में चित्त की जो अखण्डाकारावृत्ति होती है वही भक्ति है। इसलिये शास्त्र में कहा भी है—'मत्कथाश्रुतिमात्रेण मयि सर्व गुहाशये। मनोगतिरविच्छिन्ना यथा गङ्गाम्भसोऽम्बुधौ। अहैतुक्यव्यवहिता या भक्तिः पुरुषोत्तमे। लक्षणं भक्तियोगस्य निर्गुणस्य ह्युदाहृतम्।' [जैसे गङ्गाजी की समुद्र में अविच्छिन्न गति है, वैसे ही सम्पूर्ण प्राणियों के अन्तर्यामी मुझ में केवल मेरी कथा सुनने से जो अविच्छिन्न मन की गति है, वह भक्ति है। अव्यवहित और हेतुशून्य जो पुरुषोत्तम में भक्ति है, वह निर्गुण भक्ति-योग का लक्षण कहा गया है।] इन बचनों में कहे हुए लक्षणों से सम्पन्न जो भक्ति है वही योग है अर्थात् कैवल्यसिद्धि का परम उपाय है। इसप्रकार व्यभिचाररहित अविचल (निरविच्छिन्न) भक्ति से (नित्य-निरन्तर समाधि से) **सेवते**—सेवन करता है विषय ग्रहण से विमुख, निर्मल, निश्चल, चिदाकारता को प्राप्त हुई चित्तवृत्ति को तैल की धारा के समान अविच्छिन्न वृत्ति से व्युत्थापन और और अव्युत्थान (समाधि) दोनों अवस्थाओं में बाहर और भीतर परिपूर्ण, सम्पूर्ण उपाधियों से रहित, निष्कल, (अंशरहित) निष्क्रिय, शान्त, अनन्त आकाश के समान, आनन्दघन मुझ परमब्रह्म को 'यह सब और मैं ब्रह्म ही हूँ' इसप्रकार अपने को एवं समस्त विश्व-प्रपंच को मेरे रूप से ही (ब्रह्मरूप से ही) जो ब्रह्मविद् यति देखते हुए सदा मुझको अनुसंधान (स्मरण) करता है। इसप्रकार दीर्घ-काल पर्यन्त नित्य, निरन्तर केवल ब्रह्मनिष्ठा में प्रतिष्ठित वह यति ब्रह्माकार में आकारित अन्तःकरण द्वारा (ब्रह्माकार वृत्तियों द्वारा) सर्वदा सबको ब्रह्म ही देखता हुआ स्वयं इन पूर्वोक्त लक्षण वाले सत्त्वादि

गुणों का (उनके कार्यों और प्रपञ्चों के साथ) अतिक्रमण करके प्रकृति का और प्रकृति के कार्यस्वरूप से सम्पूर्ण विश्व का अधिष्ठानभूत ब्रह्म में सन्मात्ररूप से प्रविलापन (लय) करके अर्थात् इसप्रकार गुणों के अधिष्ठान के यथार्थस्वरूप दर्शन से आभासरूप से प्रतीत होने वाले आरोपित गुणों का और उनके कार्यों का अधिष्ठानरूप से अवगाहन करने वाली (अर्थात् सर्वत्र ब्रह्मस्वरूप से ही देखने वाली) चिदाकार वृत्ति से फिर "मैं, यह, वह", इसप्रकार से विषय को ग्रहण न करना ही गुणों का अतिक्रमण करना है। उसको करके **ब्रह्मभूयाय कल्पते**—जिसका सम्पूर्ण प्रपंच ब्रह्मस्वरूप ही हो गया है, ऐसा ब्रह्मविद् यति ब्रह्मभाव के लिये अर्थात् जीवित अवस्था में ही ब्रह्मस्वरूप से स्थित होने के लिये समर्थ होता है। 'मुझको जो भजते हैं वे इस माया को तर जाते हैं' (गीता ७।१४) इसप्रकार भगवान् के वाक्यानुसार अपने में और सर्वत्र ब्रह्ममातृत्व-दर्शन-विशिष्ट भगवत्प्राप्तिरूप ब्रह्मनिष्ठा में जो प्रतिष्ठित होता हैं, वही गुणमयी माया का अर्थात् गुण, उनके कार्य एवं उनके व्यवहाररूप माया का (बाह्य विषयाकार से आकारित चित्तवृत्ति के प्रवाह का) अतिक्रमण (उल्लंघन) कर विदेहकैवल्यसुख को प्राप्त होता है—दूसरा नहीं यहा कहने का अभिप्राय है। अतः इससे सूचित होता है कि 'यह सब और मैं ब्रह्म ही हूँ' इस प्रकार दूसरे प्रत्यय से रहित पूर्ण ब्रह्माकारा वृत्ति से सदा सर्वत्र ब्रह्मदर्शन ही सत्त्वादि गुणों के और उनके कार्यों के अतिक्रमण करने का उपाय है।

(३) नारायणी टीका—'कथम् एतान् त्रीन् गुणान् अतिवर्तते' किस प्रकार से तत्त्वज्ञानी तीनों गुणों को अतिक्रमण कर जाता है ? इसप्रकार अर्जुन ने जो तीसरा प्रश्न किया था उसका उत्तर देते हुए भगवान् कहते हैं—जो मुमुक्षु सभी बाह्य विषयों का परित्याग कर अव्यभिचारी (अनन्य) भक्तियोग से मेरी सेवा करता है (अर्थात् निरन्तर मेरा ही चिन्तन करता है) वह मेरे अनुग्रह से जीवित अवस्था में ही ऊपर कहे हुए तीनों गुणों का सम्यक् प्रकार से अतिक्रमण कर अर्थात् पूर्णतया गुणातीत होकर मेरी ब्रह्मस्वरूपता को प्राप्त होने के योग्य होता है।

अन्य विषय का चिन्तन छोड़ कर सर्वदा एकमात्र ईश्वर-चिन्तन ही गुणातीतत्व प्राप्त होने का उपाय है यही कहने का अभिप्राय है।

इस अध्याय के प्रारम्भ में भगवान् ने अर्जुन से कहा कि समस्त ज्ञानों में जो ज्ञान

उत्तम (सर्वोत्कृष्ट) है वह तुमको बताऊंगा जिसको जानकर मननशील पुरुष इस संसार से अनायास मुक्तिलाभ करने में समर्थ होता है (गीता १४।१) परन्तु अब भगवान् कह रहे हैं कि अव्यभिचारिणी (अनन्य) भक्ति से मेरी जो सेवा करता है वही गुणातीत होकर ब्रह्मभाव (मोक्षपद) को प्राप्त करता है। इसप्रकार के कथन से यह सूचित किया गया है कि ज्ञान तथा भक्ति ये दोनों ब्रह्मपद प्राप्त करने के लिये वैकल्पिक उपाय हैं अर्थात् प्रकृति एवं पुरुष के विवेक-ज्ञान द्वारा सम्यक्-दर्शन प्राप्त होकर जिस मोक्षपद की प्राप्ति होती है, अनन्य-भक्ति से भी उसी पद की प्राप्ति होती है इसमें कोई विरोध नहीं है क्योंकि अव्यभिचारिणी (अनन्य)—भक्ति से स्वतः ही तत्त्वज्ञान का उदय होता है एवं उससे मोक्षपद प्राप्त होता है।

यः—मोक्ष के लिये तीव्र संवेगसम्पन्न साधक **मां च**—केवल मुझ सगुण ईश्वर को ही अर्थात् सर्वभूत के हृदय में स्थित, सत्यसंकल्प, परमकारुणिक, आश्रित-वत्सल, माया तथा माया के गुणों से अस्पृष्ट , माया के कार्यों का नियन्ता, परमानन्दघन, भगवान् वासुदेव को [च शब्द से विशेष करके स्पष्ट किया गया है कि अपने देहादि अथवा दूसरे का चिन्तन पूर्णतः निषेधयुक्त है।]

अव्यभिचारेण भक्तियोगेन—निरन्तर प्रेमपूर्वक भगवान् का अनुस्मरण करने को भक्ति कहते हैं, इसप्रकार भक्ति ही भगवान् के साथ पूर्णतया योगप्राप्ति (एकत्व अनुभव) का प्रधान साधन है। इसलिये इसे भक्तियोग कहते हैं। इस भक्तियोग का स्वरूप द्वादश अध्याय में विशेषरूप से भगवान् ने वर्णन किया है। इसप्रकार जब भगवान् में परमप्रेमपूर्वक चित्तवृत्ति का प्रवाह तैलधारावत् निरन्तर अविच्छिन्नरूप से चलता रहता है एवं मन, प्राण भगवान् में समर्पित होकर अपनी सत्ता का बोध भी भगवान् में लय हो जाता है तो इसे अव्यभिचारिणी भक्ति-योग कहा जाता है। इस प्रकार से **सेवते**—जो मेरी निरन्तर सेवा करता है अर्थात् जीवात्मा को ईश्वर में लय करके मेरे साथ एकत्व-बोध से (अविच्छिन्नरूप से) चिन्तन करता है तो वह जान लेता है कि ईश्वरत्व, जीवत्व तथा संसारित्व भी कल्पित (माया-रचित) ही है क्योंकि इसप्रकार सेवन करने से मन की कोई कल्पना न रहने के कारण निर्विकल्प समाधि से वह सम्यक्रूप से अनुभव करता है कि एक अद्वितीय, गुणातीत, निष्क्रिय, शुद्ध चैतन्य-

सत्ता ही सर्वकाल में, सर्वदेश में एवं सर्वरूप में विद्यमान है तथा वह चैतन्यसत्ता जिसे ब्रह्म, परमात्मा या भगवान् कहते हैं वह मैं ही हूँ। इसप्रकार सम्यक् दर्शन के प्राप्त होने के पश्चात् गुण तथा गुणों की क्रियाओं से वह मेरा परमभक्त पूर्णतया पृथक् हो जाता है अर्थात् केवल रजः या तमागुण का ही अतिक्रमण नहीं करता है परन्तु जो सत्त्वगुण तत्त्वज्ञान की प्राप्ति का साधन (साक्षात् उपाय) था उसे भी सम्यक् प्रकार से पार कर जाता है। इसप्रकार गुणातीत होने पर ही **ब्रह्मभूयाय कल्पते**—ब्रह्मभाव (ब्रह्मस्वरूपता) या मोक्षपद प्राप्त करने में समर्थ होता है। कहने का अभिप्राय यह है कि गुण तथा गुणों की क्रियाएँ तब तक ही रहती हैं जब तक कि जीव में अविद्या विद्यमान है। सूर्य का प्रकाश होने के साथ ही साथ जिस प्रकार अन्धकार का नाश हो जाता है उसी प्रकार अनन्य-भक्ति-योग से जीव और परमात्मा के एकत्वबोधरूप तत्त्वज्ञान के प्रकाश का उदय होने पर अविद्याजनित त्रिगुणों का भी तिरोभाव (नाश) हो जाता है एवं साधक भी अपने पूर्ण ब्रह्मस्वरूप में स्थित होकर जीवित अवस्था में ही मुक्त हो जाता है।

भक्ति की तीन अवस्थाएँ हैं—(१) 'मैं तुम्हारा हूँ' अर्थात् तुम प्रभु हो मैं सेवक हूँ इसप्रकार की बुद्धि से भगवान् में निष्कामभाव से सर्व कर्मों का समर्पण करना अर्थात् निरन्तर कर्मरूप पुष्पांजलि चढ़ाना 'भक्तियोग' है इसप्रकार भक्ति से चित्तशुद्धि कर वह जान लेता है कि जिसकी सत्यसंकल्प, सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान् इत्यादि विशेषणोंसे युक्त कर सर्वभाव से उपासना या सेवा कर रहे थे वह मायाउपाधि से सगुण है वस्तुतः वह सर्वभूतों का आत्मा है इसी अवस्था में (२) 'तुम मेरे हो' अर्थात् तुम मेरे प्रियतम आत्मा हो, इसप्रकार अनुभव होने लगता है। आत्मा सबसे प्रियतम होने के कारण एवं साक्षी, द्रष्टा व केवल (एकाकी) होने के कारण आत्मा को कोई कभी भूल नहीं सकता। अतः निरन्तर स्मृति का प्रवाह अविच्छिन्नरूप से चलने के कारण उसी अवस्था की भक्ति को **अव्यभिचारी भक्तियोग**—कहा जाता है। इस अवस्था पर्यन्त ही सगुण ब्रह्म की उपासना सम्भव है। (३) निरन्तर स्मरण करने वाली चित्तवृत्ति सर्वप्रकार विक्षेप से रहित होकर (निर्विकल्प होकर) शुद्ध चैतन्यस्वरूप परमात्मा में निमग्न होती है (डूब जाती है)। अतः सेव्य, सेवक तथा सेवा, ये तीनों परमात्मारूप ही हो

जाने के कारण 'तुम (ब्रह्म) ही मैं हूँ एवं मैं ही तुम हो'। इसप्रकार के एकत्वज्ञान में वह भक्त प्रतिष्ठित होता है। अतः वह माया के सर्वकार्यों से रहित होकर (गुणातीत होकर) परमानन्दस्वरूप ब्रह्म-भाव में निरन्तर स्थिति लाभ करने की योग्यता सामर्थ्य प्राप्त होता है यहाँ इस प्रकार के साधनक्रम को सूचित करना ही भगवान का अभिप्राय है।

[सब साधनों को त्यागकर तुम परमेश्वर को अनन्यभक्तियोग से सेवा करके तुम्हारा भक्त गुणातीत होकर ब्रह्मस्वरूपता को प्राप्त होता है, ऐसा तुमने पूर्व श्लोक में कहा है। ऐसा क्यों होता है ? इसके उत्तर में कहते हैं—]

ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाहममृतस्याव्ययस्य च।
शाश्वतस्य च धर्मस्य सुखस्यैकान्तिकस्य च॥ २७॥

अन्वय—हि अहम् अमृतस्य, अव्ययस्य, शाश्वतस्य धर्मस्य, ऐकान्तिकस्य सुखस्य, च ब्रह्मणः प्रतिष्ठा अथवा—

हि अहम् अमृतस्य, अव्ययस्य ब्रह्मणः प्रतिष्ठा तथा शाश्वतस्य धर्मस्य, ऐकान्तिकस्य सुखस्य च प्रतिष्ठा।

अनुवाद—क्योंकि निर्विकल्प स्वरूप मैं अमृत (अविनाशी), अव्यय (अविकारी), शाश्वत (नित्य) धर्मस्वरूप, ऐकान्तिक सुख (परमानन्द) स्वरूप (सविकल्प) ब्रह्म की प्रतिष्ठा (वास्तविक स्वरूप) हूँ।

भाष्यदीपिका—हि—क्योंकि [अर्थात् अनन्य भक्तियोग से मेरी सेवा करने पर मेरा अनन्यभक्त गुणातीत होकर ब्रह्मपद को प्राप्त होता है, इसका कारण यह है कि] **अहम्**—आत्मा **अमृतस्य**—अविनाशी, **अव्ययस्य**—अविकारी, **शाश्वतस्य**—नित्य **धर्मस्य**—ज्ञानयोग (ज्ञाननिष्ठारूप धर्म) द्वारा प्राप्तव्य **ऐकान्तिकस्य सुखस्य**—एकान्त (अव्यभिचारी) अर्थात् समस्त देश और काल में विद्यमान रहने वाला सुखस्वरूप अर्थात् परमानन्दरूप [विषय और इन्द्रियों के संयोग से होने वाले क्षणिक सुख का निषेध करने के लिये ऐकान्तिक (अव्यभिचारी) शब्द का प्रयोग किया गया है।] **ब्रह्मणः प्रतिष्ठा**—ब्रह्म का आश्रय हूँ [क्योंकि मैं शुद्ध चैतन्यस्वरूप आत्मा सोपाधिक ब्रह्मका वास्तविक स्वरूप हूँ। इसलिये मेरा अनन्यभक्त

संसार से मुक्त हो जाता है—ऐसा कहना युक्त ही है, ऐसे ही ब्रह्माजी ने भगवान् श्रीकृष्ण से कहा था—

एकस्त्वमात्मा पुरुषः पुराणः सत्यः स्वयंज्योतिरनन्त आद्यः।
नित्योऽक्षरोऽजस्रसुखो निरञ्जनः पूर्णोऽद्वयो मुक्त उपाधितोऽमृतः॥

अर्थात्—आप पुराण, पुरुष, सत्य, स्वयंप्रकाश, अनन्त, सबके आदि, नित्य, अक्षर नित्यसुखस्वरूप, निरञ्जन, पूर्ण, अद्वितीय, उपाधि से रहित, अविनाशी एकमात्र आत्मा ही हैं।

श्री शुकदेव जी ने भी स्तुति करते हुए ही कहा है—

सर्वेषामेव वस्तूनां भावार्थो भवति स्थितः।
तस्यापि भगवान्कृष्णः किमतद्वस्तु रूप्यताम्॥

अर्थात्—समस्त वस्तुओं का भावार्थ (सत्तारूप पारमार्थिक तत्त्व) आप सोपाधिक ब्रह्म में स्थित हैं तथा उसका भी पारमार्थिक तत्त्व सर्वात्मा भगवान् हैं। अतः बताओ, उनसे भिन्न कौन वस्तु है ? (मधुसूदन)

टिप्पणी (१) श्रीधर—[पूर्व श्लोक में भगवान् ने कहा है कि उनके भक्त अव्यभिचारी भक्तियोग द्वारा उनका सेवन करके ब्रह्मभाव (मोक्ष) के लिये योग्य होते हैं **हि**—क्योंकि **ब्रह्मणः अहम् प्रतिष्ठा**—मैं (सर्वभूतों की आत्मा श्रीकृष्ण) ब्रह्मकी प्रतिष्ठा (प्रतिमा) हूँ अर्थात् मैं घनीभूत ब्रह्म हूँ। कहने का अभिप्राय यह है कि जिस प्रकार घनीभूत हुआ प्रकाश ही सूर्यमंडल है, ऐसे ही घनीभूत हुआ (पूर्ण, अवकाशरहित) ब्रह्म ही मैं हूँ [उस घनीभूत ब्रह्म का स्वरूप क्या है ? इसे स्पष्ट करते हैं—] **अव्ययस्य अमृतस्य च**—अविनाशी (नित्य) तथा मोक्षस्वरूप की एवं **शाश्वतस्य च धर्मस्य**—शुद्ध सत्त्वगुण उसका स्वरूप होने के कारण उसकी प्राप्ति के साधनरूप सनातनधर्म को **ऐकान्तिकस्य सुखस्य च**—तथा एकमात्र परमानन्द स्वरूप होने के कारण ऐकान्तिक (अखण्ड) सुख की **अहम् प्रतिष्ठा**—मैं ही प्रतिष्ठा हूँ। अतः मेरी जो सेवा करते हैं उनके लिये मेरे भाव की प्राप्ति अवश्यम्भावी होने के कारण यह ठीक ही कहा है कि 'वह ब्रह्मभाव को प्राप्त होने के योग्य हो जाता है।

कृष्णाधीनगुणासङ्गप्रसञ्जितभवाम्बुधिम् ।
सुखं तरति तद्भक्त इत्यभाणि चतुर्दशे ॥

सत्त्व, रज, तम ये तीनों गुण श्रीकृष्ण के (सर्वात्मा शुद्धचैतन्यस्वरूप सत्ता के) अधीन रहकर ही कार्य करते हैं। अतः उनका भक्त इन गुणों के सङ्ग से उत्पन्न हुए संसार समुद्र को सुख पूर्वक (अनायास) तर जाता है, यह चौदहवें अध्याय में कहा गया है।

(२) **शंकरानन्द**—प्रश्न हो सकता है कि गुण एवं गुणों के कार्यों का केवल लय (अतिक्रमण) करने से ही ब्रह्मविद् पुरुष ब्रह्मरूप नहीं हो सकता। ब्रह्मवित् स्वयं अहमार्थ (मैं इस शब्द का अर्थ अर्थात् विषय) होने के कारण ज्ञाता है और 'मैं ब्रह्म जानता हूँ' इसप्रकार का बोध रहने के कारण, ब्रह्म इदमर्थ होने से अर्थात् 'ब्रह्म यह है' इसप्रकार का बोध होने से ज्ञेय है। किन्तु ज्ञाता ज्ञेयरूप नहीं हो सकता क्योंकि प्रत्यक्ष से विरोध है अर्थात् प्रत्यक्षरूप से ज्ञाता एवं ज्ञेय (द्रष्टा एवं दृश्य) एक हैं ऐसा देखा नहीं जाता है।

उत्तर—नहीं, ऐसा कहना ठीक नहीं है क्योंकि जैसे लोक में 'यह मैं हूँ' इस प्रतीति में 'अहम्' शब्द और 'इदम्' शब्द के अर्थ में शब्दतः ज्ञाता और ज्ञेयरूप से भेद प्रतीत होने पर भी विचार करने पर दोनों के अर्थ में एकत्व है। अतः वहां ज्ञाता और ज्ञेय में विरोध (भेद) प्रत्यक्ष से देखने में नहीं आता है। ऐसे ही यहां भी भेद नहीं है, ऐसा समझना चाहिये, क्योंकि 'सर्वाणि रूपाणि विचित्य धीरो नामानि कृत्वाऽभिवदन्यदास्ते' इस प्रकार श्रुतिवचन है तथा 'अनेन जीवेनात्मनाऽनुप्रविश्य नामरूपे व्याकरवाणि' [इस जीवस्वरूप से प्रवेश करके नाम और रूपों का व्याकरण (विस्तार) करूँ]—ऐसा कहकर श्रुति नाम तथा रूप के व्याकरणरूप उपाधि में ज्ञातारूप से अवस्थित है, ऐसा प्रतिपादन करती है। इसलिये उपाधि का उपराम होने पर ज्ञाता विद्वान् का ब्रह्मभाव हो सकता है। जैसे घटरूप उपाधि का अभाव होने पर घटाकाश महाकाशरूप हो जाता है ऐसे ही उपाधिरहित होकर विद्वान् ब्रह्मस्वरूप हो जाता है। श्रुति भी इस विषय पर कहती है कि—'नान्योऽतोऽस्ति विज्ञाता,' 'अविज्ञातं विज्ञातृ' [इससे अन्य विज्ञाता नहीं है, और विज्ञाता अविज्ञात है]। इससे विज्ञाता का और ब्रह्म का अभेद सुनने में आता है और प्रतिष्ठारूप होने के कारण प्रत्यग्रूप (शुद्धचैतन्यस्वरूप विद्वान्) को ब्रह्मभाव की प्राप्ति सम्भव है ऐसा समझाने के लिये कहते हैं—

अमृतस्य—'एतदमृतमभयमेतद् ब्रह्म' (यह अमृत और अभय है, यह ब्रह्म है) इस श्रुतिवचन से 'अमृत' शब्द का अर्थ है मरणधर्मशून्य या अविनाशी। जो जन्मरहित होता है वही अविनाशी होता है, अतः 'अमृतस्य' इस शब्द से षट्‌विकारों के अन्तर्गत आदि (जन्म) तथा अन्त (मृत्यु) रूप विकारों का अभाव निश्चित किया। **अव्ययस्य**—व्ययरहित अर्थात् अविकारी ['अव्ययस्य' शब्द से वृद्धि एवं विपरिणाम का अभाव सूचित किया।] **शाश्वतस्य**—नित्य [इस शब्द से आगन्तुक, अहितत्व तथा अपक्षय का अभाव सूचित किया। श्लोक में दो 'च' कार समुच्चय (सब मिलाकर) के अर्थ में हैं।] **धर्मस्य**—अविद्या द्वारा जन्म, मरण आदि दुःखों के प्रवाह में पड़ा हुआ पुरुष जिससे बचाया जाता है वह धर्म (तत्त्वज्ञान) है। अतः तत्वज्ञानरूप धर्म से जो अवगम्य (प्राप्तव्य) है उस परमपद को भी धर्म कहा जाता है। **सुखस्य**—'सुख' शब्द का अर्थ है-आनन्दरूप, **ऐकान्तिकस्य च**—'ऐकान्तिक' शब्द का अर्थ है अत्यन्त।यह ऐसा ही हैं' इसप्रकार जिससे निश्चय किया जाता है वह 'अन्त' है। एक तथा अन्त 'एकान्त' हैं अर्थात् एक प्रत्यय है, इससे जो जानने में आता है वह 'ऐकान्तिक' है। **ब्रह्मणः**—उक्त अमृत, अव्यय, शाश्वत (नित्य) तथा धर्म स्वरूप एवं सुख (आनन्दरूप) तथा ऐकान्तिक सर्वत्र अव्यभिचारित्व (अविचलित) सत्ता वाले परिपूर्ण निर्विशेष ब्रह्म का हि—जिस कारण से **अहम् प्रतिष्ठा**—अहमार्थ (अहम् शब्द की लक्ष्यवस्तु) प्रत्यगात्मा (सम्पूर्ण दृश्यों का ज्ञाता) प्रतिष्ठा है अर्थात् नाम एवं रूप का व्याकरण (भिन्न-भिन्न रूप से प्रकाश) करने के लिये ज्ञातारूप से जो प्रतिष्ठित (प्रवृत्त) होता है, वह प्रतिष्ठा है क्योंकि श्रुति में कहा है—'तदेवानुप्राविशत्' (वही प्रतिष्ठित हुआ)। प्रत्यगात्मास्वरूप से उपाधि में स्थित होकर परब्रह्म ही बुद्धि आदि सम्पूर्ण दृश्यों को जानता है और प्रकाश करता है, उससे आत्मा में ब्रह्मत्व का व्यभिचार नहीं होता है। जिस प्रकार दीपकरूप से पदार्थ का प्रकाश करने वाले दीपकरूप अग्नि का अग्नित्व व्यभिचार को प्राप्त नहीं होता है, उसी प्रकार ब्रह्मस्वरूप आत्मा सब कुछ जानते हुए तथा प्रकाश करते हुए भी अपने स्वरूप से व्यभिचरित (स्खलित) नहीं होता है। अतः ज्ञाता आत्मा की उपाधि का अभाव होने पर ब्रह्मत्व को प्राप्त होगा—ऐसा कहना युक्त ही है। ज्ञाता ही आत्मा है एवं विद्वान् है। इसलिये ज्ञाता

विद्वान् ही होता है, यही कहने का अभिप्राय है। अथवा पूर्व (पहले) कहे हुए लक्षण वाले निर्विशेष परब्रह्म की मैं (आत्मा) प्रतिष्ठा हूँ क्योंकि मैं स्वभाव की स्थिति का हेतु हूँ। प्रत्यग्रूप से परब्रह्म ही स्वभाव स्थिति को प्राप्त होता है। ब्रह्म में जो सत्त्व, चित्त्व, आनन्दस्वरूपत्व, परिपूर्णत्व, अद्वितीयत्व आदि है वह बुद्धिरूप उपाधि से युक्त चैतन्यस्वरूप प्रत्यगात्मा से ही सिद्ध होता है—स्वतः नहीं, क्योंकि ब्रह्म स्वयं तो- निर्विशेष है। इसलिये 'अहम्' (चैतन्यस्वरूप प्रत्यात्मा) इसकी प्रतिष्ठा है। ब्रह्म के बिना चेतन का अभाव है अतः 'अयमात्मा ब्रह्म' (यह आत्मा ब्रह्म है') इसप्रकार श्रुति से उपाधि का अभाव होने पर प्रत्यगात्मा का ब्रह्मत्व (ब्रह्म के साथ एकत्व) ऐसा कहना युक्त (संगत) है। इसलिये विद्वान् (ज्ञानी पुरुष) का ब्रह्मत्व सिद्ध होता है।

(३) **नारायणी टीका**—पूर्व श्लोक में भगवान् ने कहा कि जो अनन्य भक्ति से मुझ सर्वज्ञ, सर्वेश्वर, सर्वशक्तिमान् सविकल्प अर्थात् सगुण ब्रह्म का (ईश्वर का) अनन्यभक्ति से भजन करता है, वह ब्रह्मभाव को अर्थात् परमब्रह्म के साधर्म्य को प्राप्त करने के योग्य होता है। अब अर्जुन के मन में प्रश्न होगा कि क्या ब्रह्मभाव की प्राप्ति ही मनुष्य जीवन का परमपुरुषार्थ है ? सभी मनुष्यों में तो एक प्यास है जिसकी पूर्ति न होने के कारण वे अतृप्त होकर जनम जनम संसार चक्र में भ्रमण कर रहे हैं। वह प्यास इसप्रकार है—

(१) मैं अमृत (अविनाशी) बन जाऊँ अर्थात् मेरा विनाश कभी न हो।

(२) मैं सदा ही अव्यय (अविकारी) रहूँ अर्थात् शरीर की जरा, व्याधि इत्यादि परिणामों से तथा इन्द्रियों एवं अन्तःकरण के विकारों से सदा ही मुक्त रहूँ।

(३) जिसने मुझे जाति में, वर्ण में, आश्रम में, समाज इत्यादि में धारण करके रखा है उसे मैं धर्म मान रहा हूँ परन्तु वह धर्म भिन्न-भिन्न परिस्थितियों में पृथक्-पृथक् होता है तथा सदा ही बदलता रहता है एवं वह विधिनिषेधात्मक होने के कारण उसका अनुष्ठान भी कष्टकर ही होता है, परन्तु मैं चाहता हूँ कि सब कुछ परिवर्तित होते हुए भी जिसने मुझे नित्य धारण करके रखा है एवं सब धर्मों के विधान जिसकी प्राप्ति करने के लिये ही हैं, उस शाश्वत धर्म में मैं स्थित हो जाऊँ।

(४) सुख के लिये ही सब काम करते हैं दुःख कोई नहीं चाहता है। यदि कोई सामयिक दुःख को स्वीकार करता भी है तो उसका अन्तिम उद्देश्य उस दुःख से सुख की प्राप्ति ही होता है। साथ-साथ कोई यह भी नहीं चाहता है कि उसका सुख किसी समय रहे और किसी समय वह नष्ट हो जाय अर्थात् प्राणीमात्र ही ऐकान्तिक (अव्यभिचारी) अर्थात् सर्वदेश में, सर्वकाल में एक ही रूप से विद्यमान सुख को चाहता है। विषय से जो सुख प्राप्त होता है वह अनित्य है, परिच्छिन्न (सीमित) हैं एवं प्रायः भावी दुःखों का बीज है। अतः किसी प्रकार का विषयसुख प्राणीमात्र की उस शाश्वत प्यास को मिटा नहीं सकता। कहने का अभिप्राय यह है कि मनुष्य अमृत तथा अव्यय होना चाहता है यानी सत् होना चाहता है अर्थात् उसकी सत्ता का कभी विनाश तथा विकार न हो, ऐसा चाहता है। चेतन (ज्ञान) ही सबको धारण करके रहता है, अतः प्रत्येक मनुष्य चित् (ज्ञानस्वरूप) होना चाहता है क्योंकि वह चित् ही उसका शाश्वत धर्म है तथा सभी प्राणी ऐकान्तिक सुख (परमानन्द) चाहते हैं क्योंकि आनन्द ही उसका यथार्थ स्वरूप है अर्थात् मनुष्यमात्र ही सच्चिदानंन्द होना चाहता है। सभी प्राणी जब सच्चिदानन्द ही होना चाहते हैं तो इससे सिद्ध होता है कि प्रत्येक प्राणी का स्वरूप भी सच्चिदानन्द ही है। अपने घर में लौटने के लिये सबका समान अधिकार होता है। यदि प्राणिमात्र का अपना स्वरूप सच्चिदानन्द न होता तो इसप्रकार सर्वसाधारण प्यास की सम्भावना नहीं होती। अब अर्जुन शंका कर सकता है कि मैं तो सच्चिदानन्द स्वरूप होना चाहता हूँ, तो फिर ब्रह्मभाव की प्राप्ति से मेरी वह शाश्वत प्यास कैसे मिटेगी ? इसके उत्तर में भगवान् कह रहे हैं—जिस ब्रह्म के भाव को प्राप्त करने के लिये मैंने कहा है वही ब्रह्म ही सच्चिदानन्दघन है क्योंकि वह अमृत है, अव्यय है, शाश्वत धर्म तथा ऐकान्तिक सुख (परमानन्द) स्वरूप है। अब प्रश्न होगा कि यदि ब्रह्म जीवात्मा से पृथक् हो तब तो वह ज्ञेय (दृश्यपदार्थ) होगा। अतः वह अनित्य तथा परिच्छिन्न भी होगा और यदि ऐसा ही हो तो वह जीव से परम-पुरुषार्थ की सिद्धि के लिये लक्ष्यवस्तु नहीं हो सकता। इस पर भगवान् कहते हैं कि—वह ब्रह्म आत्मा से पृथक् नहीं है क्योंकि सभी जीवों में अहम्-अहम् (मैं, मैं) शब्द द्वारा जिस सत्ता को लक्ष्य किया जाता है वही वह ब्रह्म है अर्थात् ब्रह्म ही आत्मा तथा

सब कुछ है एवं आत्मा ही ब्रह्म तथा सब कुछ है। इस ब्रह्म स्वरूप आत्मा का साक्षात्कार कर जीव पूर्ण ब्रह्मत्व को प्राप्त होता है अर्थात् उसकी सब प्यास शान्त हो जाने पर वह मोक्ष पद को प्राप्त करता है।

गीता में ब्रह्म का तीन प्रकार से वर्णन किया है—[मुमुक्षु में उत्तम, मध्यम तथा निम्न (अधम) अधिकारी भेद को लक्ष्य करके ही इसप्रकार वर्णन किया गया है, यद्यपि परमतत्त्व में कोई भेद स्वीकार नहीं किया है।] यथा—

(१)—निर्गुण, अखण्ड, अद्वितीय शुद्ध चैतन्यस्वरूप परब्रह्म।

(२)—सविकल्प (सगुण) ब्रह्म अर्थात् ईश्वररूप (विश्वरूप) ब्रह्म।

(३)—अवताररूप श्रीकृष्ण अर्थात् घनीभूत ब्रह्म। इसलिये 'अहं ब्रह्मणः प्रतिष्ठा' इस वाक्य की विभिन्न टीकाकारों ने भिन्न-भिन्न व्याख्याएं की हैं यथा—(क) मैं जब निर्विकल्प (निर्गुण शुद्ध चैतन्यस्वरूप) ब्रह्म हूँ तब मैं सविकल्प ब्रह्म की प्रतिष्ठा अर्थात् आधार (अधिष्ठान) या वास्तविक स्वरूप हूँ (शंकर, मधुसूदन इत्यादि) क्योंकि जिसप्रकार समुद्ररूप आश्रय न रहने पर तरङ्ग उठ नहीं सकती, उसी प्रकार परमशान्त, निर्विकल्प ब्रह्म को प्रतिष्ठा (आश्रय) न कर सविकल्प ब्रह्म की (मायायुक्त ईश्वर की) अभिव्यक्ति (प्रकटता) नहीं हो सकती। कहने का अभिप्राय यह है कि मुझको अधिष्ठान (आश्रय) करके ही ईश्वरीय शक्ति से समस्त कर्म करने के लिये ब्रह्म प्रवर्तित होता है। कल्पित ईश्वर की सत्ता अधिष्ठानरूप मुझसे पृथक् नहीं हो सकती। अतः मैं ('अहम्' शब्द का अर्थ प्रत्यगात्मा या अन्तरात्मा) ही उस सविकल्प ब्रह्म की प्रतिष्ठा (यथार्थ स्वरूप) हूँ अर्थात् सविकल्प ब्रह्म, उसका कार्य, जीव, जगत् सभी माया से मुझपर आभासरूप में प्रतीत होते हैं। उनकी कोई पारमार्थिक सत्ता नहीं है।

(ख) सविकल्प (सगुण) ब्रह्म की अर्थात् सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान इत्यादि विशेषण विशिष्ट ईश्वर की अनन्य भाव से सेवा करने पर चित्त उसमें क्रमशः धारणा, ध्यान तथा समाधिस्थ होकर निर्विकल्प समाधि द्वारा मुझ ('अहम्' पद का लक्ष्यार्थ शुद्ध चैतन्य स्वरूप, निर्गुण, निर्विशेष परमात्मा को प्राप्त होता है, यही पूर्व श्लोक में 'ब्रह्मभूयाय कल्पते' इस वाक्य से सूचित किया गया है। अतः मैं ही अमृत, अव्यय,

शाश्वत धर्म तथा ऐकान्तिक सुखस्वरूप सविकल्प ब्रह्म की प्रतिष्ठा हूँ अर्थात् उसका भजन करने से मैं ही अन्तिम **परमप्राप्य फल** हूँ (नीलकण्ठ) ।

(ग) मैं अन्तरात्मा, अमृतादि स्वरूप ब्रह्म की प्रतिष्ठा (**स्थिति**) हूँ क्योंकि उनकी अनन्य सेवा से भक्त आत्मसंस्थ (गीता ६।२५) होता है अर्थात् शुद्ध आत्मा में प्रतिष्ठित होता है (स्थिति लाभ करता है) ।

(२) मैं सविकल्प ब्रह्म हूँ और मैं निर्विकल्प ब्रह्म की प्रतिष्ठा (आश्रय) हूँ क्योंकि मेरे आश्रय बिना अर्थात् मेरे स्वरूप को ग्रहण करके ही अमृत, अव्यय आदि स्वरूप ब्रह्म गुणवान्—सा प्रतीत होकर विश्वप्रपंच के नाम, रूप तथा क्रिया में व्यक्त होता है ।

(३) क जब मैं कृष्णरूप से अवतारमूर्ति में प्रकट हुआ हूँ तो भी मैं अमृतादि स्वरूप ब्रह्म की प्रतिष्ठा (प्रतिमा अर्थात् घनीभूत ब्रह्म) हूँ (श्रीधर) । जिस प्रकार सूर्य घनीभूत प्रकाश है उसी प्रकार वासुदेव श्रीकृष्ण भी ब्रह्म की घनीभूत प्रतिमा हैं । सूर्य स्वयं तेजोमय होने पर भी उसे तेज की प्रतिष्ठा (आश्रय) कहा जाता है उसी प्रकार श्रीकृष्ण सर्वभूतों की अन्तरात्मा तथा अमृत अव्ययादि स्वरूप (सच्चिदानन्द स्वरूप ब्रह्म) होने पर भी उसे ब्रह्म का आश्रय कहा जाता है । सारांश यह है कि श्रीकृष्ण ही सबभूतों की आत्मा हैं अर्थात् सबके 'अहम्' शब्द की लक्ष्य वस्तु हैं क्योंकि भगवान् ने स्वयं ही कहा है—

'अहमात्मा गुडाकेश सर्वभूताशयस्थितः' (गीता १०।२०) अर्थात् हे अर्जुन ! मैं सर्वभूतों के अन्तःकरण में आत्मा के रूप से अवस्थित हूँ । अतः यह सर्वभूतों की आत्मा ही सच्चिदानन्द ब्रह्म की घनीभूत प्रतिमा (प्रकाश) है । इसलिये मैं ('अहम्' शब्द के अर्थ अन्तरात्मा) ब्रह्म की प्रतिष्ठा हूँ, इस प्रकार कहना युक्तायुक्त ही है ।

(ख) मैं सभी भूतों के हृदय में अवतीर्ण हुए अन्तरात्मा ब्रह्म की प्रतिष्ठा (**पर्यवसान स्थान** या पर्याप्ति) हूँ (शंकरानन्द, धनपतिसुरी, मधुसूदन सरस्वती इत्यादि) अर्थात् मेरी आत्मा ब्रह्म से भिन्न नहीं है ! ब्रह्म नित्यमुक्त है इसलिये वह अमृत (अविनाशी), अव्यय (अविकारी) तथा शाश्वत (नित्य मोक्षस्वरूप) है एवं उस मोक्ष की प्राप्ति का जो साधन शाश्वत (सनातन) धर्म है वह भी मैं ही हूँ

क्योंकि मैं (अन्तरात्मा) शुद्ध सत्त्वात्मक होने के कारण सभी धर्म मुझमें ही पर्यवसित समाप्त होते हैं तथा मैं ऐकान्तिक सुखस्वरूप हूँ। शुद्ध चैतन्यस्वरूप परमब्रह्म को अपनी आत्मारूप से (अभिन्न भाव से) जब तक साक्षात्कार नहीं होता हैं तब तक मोक्षपद की प्राप्ति नहीं हो सकती। अतः ब्रह्मात्मैकत्वज्ञान में ही [मेरे स्वरूप के अर्थात् अन्तरात्मारूप श्रीकृष्ण के स्वरूप के यथार्थ ज्ञान में] हीं मोक्ष का पर्यवसान (समाप्ति) होता है। अतः अमृतत्त्व, अव्ययत्व, नित्यधर्मत्व तथा अत्यन्त सुखत्व का एकमात्र आश्रय मैं ही होने के कारण मुझमें ही इन सबकी पर्याप्ति है। इसलिये मैं ब्रह्म की **प्रतिष्ठा**—(पर्यवसान स्थान) हूँ।

इसप्रकार चतुर्दश अध्याय में क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ के संयोग से पुरुष का किस प्रकार परिणाम होता है? किन-किन गुणों के साथ कैसे सङ्ग होता है, वे गुण कौन से हैं, किस प्रकार वे गुण पुरुष को बांध देते हैं, उन गुणों से किस प्रकार पुनर्जन्म होता है? तथा गुणों से मुक्ति की प्राप्ति का उपाय क्या है? गुणातीत मुक्त पुरुष का लक्षण क्या हैं—इन सबका प्रतिपादन करके अन्त में प्रत्यगात्मा से ब्रह्म की अभिन्नता का अनुभव करना ही तत्त्ववित् पुरुष की चरम लक्ष्य वस्तु है, यह प्रदर्शित हुआ।

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां भीष्मपर्वणि
योगशास्त्रे श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां
श्रीकृष्णार्जुनसंवादे गुणत्रयविभागयोगो
नामा चतुर्दशोऽध्यायः

भूमिका

नारायणी टीका

चतुर्दश अध्याय का तात्पर्य

भूमिका

नारायणी टीका

चतुर्दश अध्याय का तात्पर्य

(क) त्रयोदश अध्याय में १३।२६ वें श्लोक में भगवान् ने कहा कि विश्व में जो कुछ स्थावरजङ्गम उत्पन्न होता है वह क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ के संयोग से ही होता है। इस विषय पर निरीश्वर सांख्यवादी कहते हैं कि क्षेत्र तथा क्षेत्रज्ञ अर्थात् पुरुष (परा प्रकृति) एवं क्षेत्र (अपरा प्रकृति) का संयोग अपने आप (स्वतंत्र भाव से) होता है। यदि संयोग स्वतंत्र हो तो उससे मुक्ति की प्राप्ति करने के लिये पुरुष के पुरुषार्थ (प्रयत्न) की क्या सार्थकता है तथा भगवान् के भजन की भी आवश्यकता क्या है? इस शंका का निराकरण करने के लिये क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ का संयोग ईश्वराधीन है अर्थात् ईश्वर के संकल्प से होता है—स्वतंत्र नहीं हैं, यह स्पष्ट करने के लिये चतुर्दश अध्याय का आरम्भ हुआ है। (ख) फिर १३।२१ वें श्लोक में भगवान् ने कहा है कि पुरुष (जीव) गुणों के सङ्ग द्वारा विभिन्न योनियों में भ्रमण करता है अतः जब तक गुणों का तथा गुणों के कार्यों के स्वरूप का स्पष्ट ज्ञान नहीं होता है तब तक गुणों से मुक्त होने की कोई सम्भावना नहीं रहती। अब प्रश्न होगा कि (i) उत्तम ज्ञान कौनसा है एवं उसका फल क्या है? (ii) गुणों द्वारा विश्वसृष्टि किस प्रकार होती है तथा ये गुण स्वतन्त्र हैं या परतन्त्र है? (iii) गुण कौन-कौन से हैं? (iv) किस प्रकार से गुणों के साथ जीव का सङ्ग होता है? (v) गुणसङ्ग किस प्रकार से जीव को बद्ध करता है! (vi) किन-किन गुणों में किस-किस प्रकार की आसक्ति होती है? (vii) यह कैसे जाना जाता है कि किस गुण का किस समय उद्भव हुआ है? (viii) मृत्यु के समय किस गुण की वृद्धि होने पर जीव कौनसी गति प्राप्त होता है! (ix) वृद्धि को प्राप्त हुए विशेष-विशेष गुणों के विशेष-विशेष फल क्या हैं! (x) संक्षेप में गुणयुक्त पुरुष की गति (xi) गुणातीत कौन है! मुक्तिप्राप्ति (xii) प्रकृति-पुरुष का विवेकज्ञान कैसे होता है? (xiii) गुणा-

तीत पुरुष का विशेष फल क्या है ? (xiv) गुणातीत पुरुष के लक्षण क्या है ! (xv) गुणों का अतिक्रमण करने में भगवत्भक्ति की ही श्रेठता क्यों है ! (xvi) ब्रह्म तथा आत्मा का एकत्वज्ञान ही गुणों से (प्रकृति से) मुक्ति की प्राप्ति का उपाय है।

गुणोंका परिचायक ज्ञान परम उत्तम ज्ञान है (१४।२–२)

स्वधर्म विहित कर्मादि के अनुष्ठान चित्तशुद्धि हो जाने पर परम तत्त्व की जिज्ञासा उत्पन्न होती है। अतः यज्ञ, तपस्या दान इत्यादि चित्त शुद्धि करने वाले कर्मों का विशेष ज्ञान साधना की पहली अवस्था में उत्तम है। जिज्ञासा उत्पन्न होने पर श्रवण मनन, निदिध्यासन द्वारा परमतत्त्व कों जाना जाता है एवं इन श्रवणादि के अन्तरङ्ग साधन हैं– अमानित्वादि जो त्रयोदश अध्याय में विस्तृतरूप से वर्णित हुए हैं अतः बहिरङ्ग कर्मादि साधनों की अपेक्षा ये अमानित्वादि अन्तरङ्ग साधनों को उसी अवस्था में उत्तम कहा जा सकता है। (गीता १३।७-११) परन्तु ज्ञानी को भी प्रारब्धवश गुण की वृत्तियाँ तत्त्वज्ञान से च्युतकर मोह में कभी-कभी डाल देती हैं। इसलिये शतशती में कहा है—

'ज्ञानिनामपि चेतांसि देवी भगवती हि सा।
बलादाकृष्य मोहाय महामाया प्रयच्छति॥'

इसका कारण यही है कि जब तक त्रिगुण के स्वभाव एवं उनके कार्यों के विषय में पूर्ण परिचय नहीं होता है तबतक अज्ञात शत्रु के समान विद्वान् पुरुष को वे तीनों गुण जीवन्मुक्ति के आनन्द से वंचित कर देते हैं। इसलिये भगवान् कह रहे हैं कि सब ज्ञानों के अन्दर गुणों का पूर्ण परिचय देने वाला जो परम (अतिशय) उत्तम ज्ञान है, उसे मैं कह रहा हूँ। यद्यपि गीता के पूर्व अध्यायों में कहीं-कहीं इस ज्ञान का भगवान् ने वर्णन किया है तथापि इसके सम्बन्ध में पुनः पुनः श्रवण करना आवश्यक है क्योंकि यह अतिशय उत्तम है—(क) इस ज्ञान से गुणों द्वारा उत्पन्न हुए सभी कार्यों के प्रति मिथ्यात्वबुद्धि निश्चित होता है वस्तु का मिथ्यात्व निश्चय होने पर उसके प्रति आसक्ति रहना सम्भव नहीं हो सकता। आसक्ति का अभाव होने पर चित्त में विक्षेप का कोई कारण नहीं रह सकता। अतः चित्त सर्वप्रकार से विक्षेपशून्य होकर परमात्मा में निश्चल-रूप से स्थिरता प्राप्त कर लेने पर आत्मसाक्षात्कार (सम्यग्दर्शन) होता है। यही

मुक्ति का साक्षात् कारण है। अतः यह ज्ञान कर्मादि बहिरङ्ग साधनों तथा अमानित्वादि अन्तरङ्ग साधनों की अपेक्षा सर्वोत्कृष्ट है अर्थात् परम उत्तम ज्ञान है। (ख) इस ज्ञानको जानकर अर्थात् इस ज्ञान की प्राप्ति होने के पश्चात् इस ज्ञान का उपयोग (अनुष्ठान) करके सभी मननशील संन्यासी इस देह बन्धन से परासिद्धि (मुक्ति) को प्राप्त हुए है।

इस ज्ञान का फल क्या है! (१४।२)—जो लोग प्रकृति या माया से व्याप्त हुए त्रिगुणों के धर्म तथा कर्म के सम्बन्ध में पूर्ण ज्ञान को प्राप्त नहीं हुए हैं; वे भी ईश्वर की विशेष-विशेष मूर्तियों की उपासना कर विशेष-विशेष लोकों को प्राप्त होते हैं। अतः इसप्रकार ऐश्वरी मूर्ति की उपासना का फल भी सगुण ही होता है कारण सभी मूर्तियाँ ही कल्प के अन्त में विश्व के लय होने पर परमब्रह्म में लय होती हैं। अतः तत्-तत् लोक (विष्णु-लोक, शिव-लोक इत्यादि) का भी नाश हो जाता है। जिस वस्तु का प्रलय में लय हो जाता है एवं सृष्टि के प्रारम्भ में उद्‌भव (उत्पत्ति) भी होता है इस कारण से गुणों के ज्ञान से रहित उपासना द्वारा आत्यन्तिक मुक्ति की कोई सम्भावना नहीं है। परन्तु गुणों के तथा उनके कार्यों के स्वरूप को जानने के पश्चात् निर्विकल्प समाधि द्वारा ब्रह्मस्वरूप आत्मा का साक्षात् अनुभव करने पर ब्रह्म के साधर्म्य को (यथार्थ स्वरूप को प्राप्त होकर जीव ब्रह्म ही हो जाता है। अतः प्रकृति-गुणों से अस्पष्ट रहने के कारण प्रलय काल में अपने स्वरूप से च्युत नहीं होता है, अतः लय की व्यथा को प्राप्त नहीं होता है एवं पुनः गुणों द्वारा विश्वसृष्टि होने पर वह मुक्त पुरुष फिर देहादि से युक्त होकर उत्पन्न नहीं होता, यही इस ज्ञान का विशेष फल है।

क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ के संयोग से जो विश्वसृष्टि होती है वह ईश्वराधीन है (१४।३-४)।

ब्रह्म में एक कल्पना शक्ति है जिसका नाम है माया। यह क्यों है। इसका निर्वाचन नहीं हो सकता है, जैसे अग्नि की दाहिका शक्ति क्यों है? इसका समाधान नहीं किया जाता है क्योंकि अग्नि की दाहिका शक्ति अग्नि का स्वभाव है अर्थात् अग्नि से अभिन्न है। इसी प्रकार माया भी ब्रह्म का स्वभाव है अर्थात् शक्ति और शक्तिमान का अभेद है। माया से ही सृष्टि होती है। वह सृष्टि दो प्रकार की है—(१) अबुद्धि-

पूर्वक अर्थात् स्वाभाविक सृष्टि (२) बुद्धिपूर्वक (संकल्प द्वारा सृष्टि) । इसलिये माया शक्ति भी दो प्रकार की है—(१) सृष्टि की अतीत शक्ति (२) सृष्टि-शक्ति । सृष्टि शक्ति त्रिगुणमयी है अर्थात् सत्त्व-रजः-तमः त्रिगुणात्मिका है। यह त्रिगुणामयी सृष्टिशक्ति-रूपा माया चतुष्पाद ब्रह्म के एक पाद में (एक अंश में) स्थित होकर ब्रह्म को अनन्त नामरूप तथा क्रिया से प्रतीत कराती है एवं इस प्रकार सृष्टि-शक्तिरूपा माया के संबन्ध से ब्रह्म, सगुण ईश्वर, विश्वरूप, सर्वान्तर्यामी इत्यादि संज्ञा को प्राप्त होता है। परन्तु सृष्टि से अतीत जो शक्ति है वह ब्रह्म के अवशिष्ट त्रिपाद के साथ एक होकर स्थित रहती है एवं ब्रह्म निर्गुण होने के कारण वह शक्ति भी निर्गुण है । कहने का अभिप्राय यह है कि ब्रह्म के केवल एक पाद में माया की सृष्टि-शक्ति कार्य करती है। अवशिष्ट तीन पाद सर्वकाल में सृष्ट विश्व-प्रपञ्च से अतीत है। इस त्रिपाद को ही अनावृत ब्रह्म, असंग ब्रह्म चैतन्य, तुरीय ब्रह्म, आधार चैतन्य, निरुपाधि निष्क्रिय ब्रह्म कहा जाता है।

सृष्टि के आरंभ होने के पूर्व त्रिगुण की साम्य अवस्था रहती है। उस समय माया अव्यक्त, प्रधान प्रकृति, आद्याशक्ति नाम से अभिहित होती है। सृष्टि के साथ साथ त्रिगुण की साम्य अवस्था का अभाव (अर्थात् विषमता) उपस्थित होता है एवं निष्क्रिय ब्रह्म के सान्निध्य मात्र से प्रकृति के परिणाम का आरंभ होता है। इसका पहला परिणाम होता है महद्ब्रह्म। यह सृष्टिशक्ति का पहला विकास है। समस्त विश्व सृष्टि के बीज स्थान होने के कारण यह सबकार्य की अपेक्षा अधिक (महत्) है एवं सर्वकार्यों की अनंत रूपसे वृद्धि का हेतु होने के कारण इसे ब्रह्म भी कहा जाता है। अतः यह महत् ब्रह्म है। ईश्वर की सृष्टि सम्बन्धी बुद्धि शक्ति को ही महत् या महत्तत्व या महद्ब्रह्म या अपरा प्रकृति नाम से कहा जाता है। यह सर्वभूत की योनि (अभि-व्यक्ति स्थान) है। शुद्ध चैतन्यस्वरूप ब्रह्म जब इसमें संकल्परूप [अर्थात् 'मैं बहु होऊंगा' 'अहं बहु स्याम्' इसप्रकार ईक्षणरूप संकल्प] निक्षेप करता है तब उससे सर्वभूत की उत्पत्ति होती है अर्थात् जो क्षेत्रज्ञ अविद्या, काम, कर्म एवं संस्कारयुक्त होकर प्रलय काल में लीन था, सृष्टि काल में उसके योग्य भोगरूप क्षेत्र के साथ उसको संयुक्त कर देता है। तात्पर्य यह है कि प्रलय काल में क्षेत्रज्ञ जीव अज्ञान तथा अज्ञान-जनित काम, कर्म, संस्कार लेकर ब्रह्म में ही (ब्रह्मरूप पिता में) लीन रहता है।

पिता जिस प्रकार अपने वीर्य में स्थित संतानरूप जीव को स्त्री की योनि में गर्भरूप आधान (स्थापन) कर उस क्षेत्रज्ञ जीव को भोग्य विश्व प्रपञ्चरूपी क्षेत्र के साथ संयोग करा देता है, ब्रह्म भी उसी प्रकार क्षेत्रज्ञ को क्षेत्र के साथ संयोग करा देता है। अतः ब्रह्म संकल्प रूप बीज का (चिदाभासरूप वीर्य का) प्रदान करने वाला पिता है और उस बीज को धारण करने वाली महत्ब्रह्मरूप समष्टि योनि है एवम् इसप्रकार गर्भाधान से समस्त व्यष्टि योनि में जरायुज-अंडज स्वेदज, उद्भिज आदि भेद से समस्त मूर्ति भूतों के अपने अपने कर्मों के अनुसार उत्पत्ति होती है। अतः भोक्ता क्षेत्रज्ञ जीव, भोग्य क्षेत्र (विश्व प्रपंच) तथा इन दोनों के संयोग-ये सभी मायायुक्त ब्रह्म (ईश्वर) का ही कार्य है अर्थात् ये सब स्वतंत्र नहीं हैं परंतु ईश्वराधीन हैं, यह स्पष्ट रूप से प्रतिपादित किया गया है।

गुण कौन-कौन से हैं ? एवं कौन गुण जीव को किस प्रकार से बद्ध करता है ? (१४।५)

गुण तीन प्रकार के हैं—सत्त्व, रजः, तमः। ये सब प्रकृति से (भगवान् की माया से) उत्पन्न हुए हैं। गुणों की साम्यावस्था को प्रकृति कहा जाता है। पहले ही कहा जा चुका है कि संकल्प या मायाशक्ति ब्रह्म का स्वभाव है। संकल्प के उदय होने पर ही गुणों का वैषम्य उपस्थित होता है एवं उस प्रकृति से तीनों गुण पृथक् पृथक् रूप से (अपने अपने विशेष रूप से) अभिव्यक्त होते हैं। ये गुण उस जीव को ही प्रकृति के कार्यरूप शरीर में बद्ध कर सकते हैं जिसकी अज्ञानता का कारण देहादि में आत्माध्यास (आत्मबुद्धि) रहता है। यद्यपि जीव परमार्थतः अविनाशी है, अतः इसका पारमार्थिक बन्धन नहीं हो सकता है, तथापि जीव के अज्ञान के कारण ही वे गुण अपने अपने कार्य सुख दुःख मोहादि में डालकर मनोबद्ध कर दिये हैं; ऐसा प्रतीत होता है।

प्रत्येक गुण की विशेषता क्या है ? एवं किस-किस गुण में किस-किस प्रकार की आसक्ति होती है ? (१४।६।९)

(१) सत्त्वगुण स्वच्छ होने के कारण (क) उसके अधिष्ठानभूत चिद्विम्ब को ग्रहण करने में योग्य है। अतः यह चैतन्यस्वरूप ब्रह्म में तमोगुणकृत आवरण का नाश

कर चैतन्यस्वरूप आत्मा का प्रकाशक होता है। इसलिए ज्ञान सत्त्वगुण का विशेष कार्य है, अतः जीव को ज्ञान के संग से बद्ध कर देता है [अर्थात् मैं ज्ञानी हूँ इस प्रकार मन के धर्मों में अभिमान कर क्षेत्रज्ञ जीव सत्त्वगुण द्वारा बद्ध होता है] (ख) सत्त्वगुण अनामय (उपद्रवरहित तथा शांत एवं स्थिर) है। जिधर आमय (उपद्रव) है उधर दुःख भी है। अतः सत्त्वगुण दुःख का विरोधी तथा सुख का व्यंजक होने के कारण सुख सत्त्वगुण से ही उत्पन्न होता है। इसलिए सत्त्वगुण अपने कार्य सुख के संग से जीव को बाँध देता है (अर्थात् 'मैं सुखी हूँ' इस प्रकार के मनोधर्म में अभिमानयुक्त होकर क्षेत्रज्ञ जीव अज्ञान के कारण संसार में बद्ध होता है।)

(२) रजोगुण रागात्मक है अर्थात् काम (वासना) तथा गर्व रजोगुण के स्वरूप हैं। अतः काम से तृष्णा एवं तृष्णा से विषयासक्ति रजोगुण से ही उत्पन्न होती है। तृष्णा एवं आसक्ति जहाँ हैं वहाँ उनकी तृप्ति करने के लिये कर्म की प्रवृत्ति भी अवश्य ही रहेगी। अतः 'मैं इस प्रकार फल प्राप्ति के लिये ऐसा कर्म करूँगा' एवं 'उस कर्म से इस विशेष फल का भोग करूँगा', इस प्रकार का अभिनिवेश होता है। देही होने पर भी अर्थात् अकर्त्ता, अभोक्ता होने पर भी जब जीव अपने को देह धर्म के साथ तादात्म्य अभिमान कर कर्त्ता, भोक्ता मानता है तो रजोगुण उस देहाभिमानी पुरुष को कर्म संग से (कर्म में आसक्ति से) विशेष भाव से बन्धन कर देता है अर्थात् वह नाना प्रकार के कर्मों में प्रवृत्त होकर संसार में बद्ध हो जाता है।

(३) तमः गुण अज्ञान की (माया की) आवरण शक्ति से प्रकट होता है एवं सब देहाभिमानी पुरुष को मोह में (अविवेक रूप भ्रांति में) डाल देता है। अतः जीव का विवेक विचार हरण कर लेने के कारण तमोगुण प्रमाद (विचारहीनता एवं असावधानता) आलस्य (उद्यमहीनता) एवं निद्रा (चित्त के अवसाद रूप लय) से देहाभिमानी पुरुष को आबद्ध कर देता है अर्थात् तमोगुण से आच्छन्न जीव उन तीनों दोषों से वशीभूत होकर मोक्ष मार्ग के अधिकार से वंचित रहता है।

सारांश यह है कि (क) सत्वगुण के उदय होने पर चित्त दुःख की चिन्ता छोड़ कर सुख के प्रति आकृष्ट होता है। किन्तु सुख (विषय सुख) अनित्य तथा अपूर्ण होने के कारण परमानन्द प्राप्ति के मार्ग में विघ्न स्वरूप है अर्थात् इसप्रकार सुख के

प्रति आसक्ति से संसार-बंधन प्राप्त होता है, मोक्ष नहीं। (ख) रजोगुण प्रबल होने पर यथार्थ सुख की चिन्ता छोड़कर अज्ञानी जीव विषयप्राप्ति के लिये विभिन्न कर्मों में नियुक्त होता है। एवं कर्मफल भोगने के लिये संसारप्रवाह में भटकता है। अतः यह बन्धन ही है (ग) तमोगुण प्रबल होने पर सत्पुरुष के उपदेशजनित ज्ञान को भी धारण करने की सामर्थ्य नहीं रहती है क्योंकि तमोगुण अंधकार के समान ज्ञान का आच्छादक है। अतः विचारशक्ति नष्ट होने के कारण जीव को प्रमाद में आकृष्ट करता है (असावधानता एवं कर्तव्यज्ञानशून्यता के कारण होकर घोर बंधन का हेतु होता है) अतः कहने का अभिप्राय यह है कि रजः तथा तमः गुणों का परित्याग कर सत्त्वगुण का आश्रय करने पर चित्त निर्मल (स्वच्छ) प्रकाशक एवं उपद्रवशून्य (विक्षेपशून्य) आत्मसाक्षात्कार संभव होता है। अतः सत्त्वगुण से सम्पन्न होने के लिये सभी बुद्धिमान् पुरुष को प्रयत्न करना अवश्य कर्तव्य है।

कौन गुण विशेष रूप से कैसे उद्भूत होता है ? (१४।१०)

(क) जब रजः और तमोगुण अभिभूत होते हैं अर्थात् उनके पूर्वोक्त विशेष कार्य दिखाई नहीं देते हैं तो जाना जाता है कि सत्त्वगुण उस समय विशेष रूप से प्रकट हुआ है एवं अपने कार्य, सुख एवं ज्ञान में जीव को नियुक्त कर देगा। इस प्रकार गुणों का आविर्भाव तथा तिरोभाव अदृष्टवश ही होता है।

(ख) जब रजोगुण एवं सत्त्वगुण अभिभूत होता है तब तमोगुण विशेष रूप से प्रकट होता है तथा अपने कार्य प्रमाद आलस्यादि में जीव को संयुक्त करता है।

(ग) जब सत्त्व एवं तमोगुण अभिभूत रहते हैं तो रजोगुण जीव को अपने कार्य तृष्णा आदि में संयुक्त कर देता है।

वृद्धिप्राप्त गुणों के लक्षण इस प्रकार हैं (१४।११-१३)

(क) सत्त्व गुण की वृद्धि होने पर शरीर के समस्त द्वारों में (इन्द्रियों में) प्रकाश उत्पन्न होता है अर्थात् इन्द्रियों द्वारा जो कुछ दर्शन, श्रवणादि कार्य होते हैं उनके सम्बन्ध में यथार्थ ज्ञान का प्रकाश होता है अर्थात् इन सब दृश्य के पश्चात् एक नित्य, सत्य, आनंदमय वस्तु है, इसकी अनुभूति हाती है एवं शब्दादि विषयों का भी

स्पष्ट ज्ञान होता है। ['उत' शब्द से सुखादि लिङ्ग को भी ग्रहण किया गया है अर्थात् सत्त्वगुण के विशेष रूप से वृद्धि होने पर केवल समस्त इन्द्रियों में ही ज्ञान का प्रकाश नहीं होता है परंतु ज्ञान, प्रकाश, एवं सुख जो सत्त्वगुण के कार्य हैं वे सब एक साथ उत्पन्न होते हैं।

(ख) रजः गुण की विशेष भाव से वृद्धि होने पर लोभ अर्थात् धनादि व्यापार में उत्तरोत्तर अधिक अभिलाषा, प्रवृत्ति, निरंतर भलीभाँति चेष्टा वह व्ययसाध्य गृहादि निर्माण कर्मों में उद्यम, अशम 'अभी ऐसा करके फिर ऐसा करेंगे' इसप्रकार के संकल्पविकल्प का अनुपराम (संकल्पविकल्प की अनुवृत्ति एवं स्पृहा (सब वस्तुओं के लिए तृष्णा) की उत्पत्ति होती है अर्थात् इन सब लक्षणों से रजोगुण प्रवृद्ध हुआ है, ऐसा जाना जाता है।

(ग) तमोगुण की विशेष रूप से वृद्धि होने पर अत्यंत अप्रकाश (अत्यन्त अविवेक अर्थात् उपदेश द्वारा समझाने पर भी उसको धारण करने में असमर्थता होती है क्योंकि तमोगुण से बुद्धि आवृत हो जाती है) अप्रवृत्ति (उद्यमहीनता), प्रमाद (कर्तव्य कर्मों का अनुष्ठान तथा स्मरण नहीं करना अर्थात् असावधानता), मोह (निद्रा तथा विपर्यय बुद्धि से सदा ही आच्छन्न रहना) इत्यादि उत्पन्न होते हैं अर्थात् इन सब लक्षणों से तमोगुण प्रकट हुआ है, ऐसा जाना जाता है।

मृत्यु के समय किस गुण की वृद्धि होने पर कौन सी गति जीव को प्राप्त होती है ? (१४।१४-१५)

(क) मृत्यु के समय सत्त्वगुण प्रवृद्ध होने पर देहाभिमानी जीव को हिरण्यगर्भादि के उपासक को जिस अमल (रजस्तमोमलरहित दुःखशून्य) दिव्य भोगयुक्त लोक समूह की प्राप्ति होती है, उसी लोक में गमन होता है।

(ख) मृत्युकाल में रजोगुण प्रवृद्ध होने पर कर्मसंग में अर्थात् कामासक्त मनुष्य योनि में जीव को जन्म लेना पड़ता है।

(ग) तमोगुण के प्रवृद्ध के समय मृत्यु होने पर मूढ़ योनि में (पशु आदि योनि में) जन्म होता है।

सात्त्विक, राजसिक एवं तामसिक कर्मों का फल क्या होता है ? (१४।१६)

(क) सुकृति से ही सात्त्विक गुणों का उदय होता है। इसलिये सात्त्विक गुण को सुकृति कहा जाता है। सात्त्विक कर्म का फल है निर्मल (रजः एवं तमः गुणों के फल से रहित) तथा प्रकाशबहुल सत्त्व प्रधान सुख।

(ख) रजः कर्म का (पापमिश्रित पुण्य कर्म का) फल है दुःख अर्थात् अनेक दुःख, अल्प सुख।

(ग) तामस कर्म का (अधर्म का) फल है अज्ञान (मूढ़ता)।

११ से १३ श्लोकों का उपसंहार (१४।१७)

सत्त्व से ज्ञान उत्पन्न होता है, रजः से लोभ एवं तमोगुण से प्रमाद, मोह तथा अज्ञान उत्पन्न होते हैं।

१४ से १५ श्लोकों का उपसंहार (सात्त्विक, राजसिक एवम् तामसिक स्वभाव वालों की गति) (१४।१८)

(क) जो सत्त्वगुण की वृत्ति में स्थित रहते हैं अर्थात् स्वभावतः ही जो सात्त्विक स्वभाव वाले हैं वे ऊर्ध्वगति को प्राप्त होते हैं अर्थात् सत्त्वगुण की उत्कर्षता के तारतम्यके अनुसार मनुष्य लोक से लेकर सत्त्व लोक पर्यन्त किसी भी लोक में मृत्यु के पश्चात् गमन कर सकता है (अर्थात् जन्म ले सकता है)।

(ख) राजस स्वभाव वाले पुरुष मध्यम लोक में रहते हैं अर्थात् तृष्णा लोभादि से व्याकुल होने के कारण पुण्य-पाप मिश्रित मनुष्य लोक में ही रह जाते हैं (अर्थात् पुनर्जन्म लेते हैं)।

(ग) जो लोग जघन्य (निकृष्ट तमोगुण) की वृत्ति में (निद्रा-आलस्यादि में) स्थित रहते हैं वे अधः लोक को प्राप्त होते हैं अर्थात् वे पशु आदि योनियों में जन्म लेते हैं।

गुणातीत कौन है ? एवं गुणातीत होने का फल (१४।१९-२०)

(क) जब विद्वान् लोग श्रवण-मनन निदिध्यासन के पश्चात् देखते हैं (साक्षात् अनुभव करते हैं) कि प्रकृति से उत्पन्न हुए ये तीनों गुण [अन्तःकरण, बहिः करण

(चक्षुरादि इन्द्रियसमूह) तथा शरीर एवं विषय-भाव को प्राप्त हो कर] कार्यकारण रूप से सब कर्मों का कर्ता हैं एवं इन गुणों से अतिरिक्त दूसरा कोई कर्ता नहीं है;

(ख) एवं यह भी जान लेते हैं कि उनकी आत्मा अर्थात् वे स्वयं पारमार्थिक-स्वरूप से उन गुणों से सम्पूर्ण विलक्षण (पृथक्) हैं क्योंकि वे गुणों के व्यापारों के सदा ही द्रष्टा (साक्षी) रूप से विद्यमान हैं। इस प्रकार ज्ञान के फलरूप से वे द्रष्टा ब्रह्मभाव अर्थात् ब्रह्म स्वरूपता या ब्रह्मत्व अथवा 'वासुदेवः सर्वमिति' (सब ही वासुदेव है) इसप्रकार भाव प्राप्त होकर गुणों से तर जाते हैं।

देहोत्पत्ति के बीजभूत (अर्थात् देहोत्पत्ति के कारणरूप) इन तीनों गुणों का अतिक्रमण करके (पार करके) देहधारी जीव देहादि में तथा उनके कार्यों में तादात्म्याभिमान अर्थात् मैं, मेरापन को त्याग देने के कारण जन्म-मृत्यु-जरा-(वार्धक्य) एवं आध्यात्मिक, आदिदैविक एवं आधिभौतिक दुःखों से विशेषरूप से मुक्त हो कर अमृत (परमानन्द) को प्राप्त होते हैं अर्थात् संसार-चक्र से मुक्त होते हैं। [गुणसमूह ही (अर्थात् गुणों से उत्पन्न हुए शरीर इन्द्रियादि) गुणों में (गुणों के परिणाम रूप विषयों में) कार्य कर रहे हैं अर्थात् जागतिक सब कर्मों के कर्ता एवं भोक्ता गुण ही हैं, इसप्रकार जो सम्यक् प्रकार से जान लेता है, वह क्षेत्रज्ञ आत्मा को क्षेत्र से (प्रकृति से) पृथक् कर लेता है। क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ का विभागज्ञान ही मोक्ष का साक्षात् साधन है, यह त्रयोदश अध्याय में विस्तृत रूप से वर्णित हुआ है। अतः इसप्रकार तत्त्वदर्शी पुरुष सदा द्रष्टा स्वरूप में ही स्थित रह कर ब्रह्म के साथ एकत्व अनुभव कर गुणों के कार्यों से [जन्म-मृत्यु-जरा तथा सर्व-दुःखों से] पूर्णरूप से मुक्त हो जायेगा, इसमें क्या संशय रह सकता है ? गुणों के कार्य रूप देहादि में आत्माभिमान (देह मैं हूँ, इन्द्रिय मैं हूँ, इत्यादि बुद्धि) जब तक रहता है तब तक ही जीव देहादि से कृत कर्म फल भोगने के लिये जन्म-मृत्यु-जरा दुःखपूर्ण संसार में भटकता रहता है।]

गुणातीत का लक्षण क्या है ? एवं उसका आचरण (व्यवहार) कैसा है ? (१४।२१—२५)

(१) सत्त्वगुण का कार्य प्रकाश, रजोगुण का कार्य प्रवृत्ति एवं तमोगुण का कार्य मोह है। गुणातीत पुरुष, तीनों गुण तथा उनके कार्यों में उदासीन रहते हैं क्योंकि

वे जानते हैं कि आत्मा इनसे सम्पूर्णतया पृथक् है एवं इनके कार्यों का द्रष्टामात्र है। अतः सत्त्व, रजः, तमः गुण विभिन्न समय में सम्प्रवृत्त होने पर भी इन गुणों के कार्य से वह विचलित नहीं होते हैं अर्थात् समाधि अवस्था के विघ्नरूप से सात्त्विक सुख, राजसिक दुःख एवं तामसिक मोह के उदय होने पर भी उनसे दुःख बुद्धि से द्वेष नहीं करते हैं क्योंकि वे जानते हैं कि आत्माभिन्न ये सब मायिक या मिथ्या ही हैं। फिर वे यह भी नहीं चाहते हैं कि इन सब गुणों के कार्य समाधि अवस्था में यदि निरन्तर निवृत्त रहे तो ज्ञाननिष्ठा (आत्मसंस्थिति के लिए) वह निवृत्ति अनुकूल होगी। अतः सुख बुद्धि से (अनुकूल बुद्धि से) इनकी निवृत्ति नहीं चाहते हैं। कहने का तात्पर्य यह है कि गुणातीत की दृष्टि में गुणों से उत्पन्न हुए समस्त विश्वप्रपंच मायिक अर्थात् मिथ्या होने के कारण अनुकूल या प्रतिकूल बुद्धि नहीं रहती है। अतः गुणों के कार्य के प्रवृत्त होने पर यदि दुःख प्राप्त हो तो उन कार्यों के प्रति द्वेष नहीं होता है एवं गुणों के कार्यों की निवृत्ति होने पर यदि सुख प्राप्त हो तो उन सुखों के प्रति भी आकांक्षा नहीं रहती है। इसलिए गुणातीतों के बाह्य आचरण (व्यवहार) भी विलक्षण होते हैं, यथा—

(क) गुणातीत समस्त विषयों में उदासीन के समान स्थित रहता है अर्थात् गुणों का उदय एवं लय होते रहते भी वह द्रष्टा-मात्र होकर उन सबको नाटक के दृश्य के समान देखता रहता है। उन दृश्यों को न तो वह अच्छा मानता है न बुरा और न उसको सुख होता है न दुःख।

(ख) गुणों के कार्य कैसे ही हों, उनसे वह बिन्दु मात्र विचलित न होकर आत्मस्वरूप में ही स्थित (स्वस्थ) रहता है।

(ग) "गुणसमूह अपने-अपने कार्यों में बढ़ते रहे हैं—इनके साथ मेरा कोई सम्बन्ध नहीं है, ये सब स्वप्नों के समान मायामात्र हैं परन्तु मैं परमार्थ सत्य, निर्विकार, द्वैतशून्य ब्रह्मस्वरूप हूँ", इस प्रकार निश्चय करके तथा कर्तृत्व-भोक्तृत्व के अभिमान का परित्याग करके वृक्ष के समान वह अपने स्वरूप में ही स्थिररूप से स्थित रहता है एवं कोई गुण तथा गुणों की इष्ट-अनिष्ट क्रिया उसको लेशमात्र भी स्पर्श नहीं कर सकती। अतः वह अपनी स्थिति से कभी कम्पित (विचलित) नहीं होता है।

(घ) गुणातीत की दृष्टि में आत्मा से अतिरिक्त अन्य सब ही स्वप्नवत्

मिथ्या होने के कारण सुख-दुःख में उसकी समबुद्धि रहती है। [जाग्रत व्यक्ति के मन में जिस प्रकार स्वप्न में अनुभूत हुए सुख तथा दुःख में कोई भेदबुद्धि नहीं रहती है उसीप्रकार अज्ञान के नाश के पश्चात् गुणातीत विद्वान् की अज्ञानजनित सुख-दुःख में विषम बुद्धि की सम्भावना नहीं रहती है।] वह अपनी आत्मा में निरन्तर स्थित रहने के कारण एक अखण्ड आनन्द में डूबा रहता है। मिथ्या वस्तु के लिए लोभ तृष्णा की सम्भावना नहीं है एवं सर्वत्र आत्मदर्शन के कारण मिट्टी के पिण्ड, पाषाण के टुकड़े एवं सोने के खण्ड में समदृष्टि ही रहती है क्योंकि ये सब मिथ्यावस्तुओं की सत्ता अधिष्ठानस्वरूप आत्मा से पृथक् नहीं देखता है।

(ङ) उसी कारण से उनके लिए न तो कोई प्रिय है, न तो कोई अप्रिय है। अतः लौकिक दृष्टि से प्रिय अथवा अप्रिय वस्तु उनके पास उपस्थित होने पर उनकी तुल्य-दृष्टि ही रहती है।

(च) अतः (अर्थात् सर्वत्र ब्रह्मदर्शन करने के कारण) निन्दास्तुति, मान अपमान एवं मित्र-शत्रु पक्ष में भी उनका तुल्य बोध ही रहता है। [क्योंकि सर्वत्र समभाव से एक अद्वितीय अधिष्ठान सत्ता (ब्रह्म) के दर्शन होने के कारण उनके लिए माया से प्रतीत हुए मिथ्याभूत शब्द, रूप तथा क्रियाओं का कोई तात्पर्य नहीं रहता है।]

(छ) वह सर्वारम्भपरित्यागी होता है अर्थात् सभी दृश्य पदार्थों का मिथ्यात्व निश्चय होने के कारण उसके लिए आत्मा से अतिरिक्त अन्य कोई प्राप्तव्य वस्तु नहीं है। अतः किसी प्रकार की चेष्टा की भी आवश्यकता नहीं रहती है। इसलिए गीता में भी कहा है 'तस्य कार्यं न विद्यते' अर्थात् उसका कोई कार्य अवशिष्ट नहीं रहता है। यद्यपि प्रारब्धवश देहेन्द्रियादि से स्वाभाविक कर्म होते रहते हैं किन्तु उसकी अपनी इच्छा से किसी आरम्भ (कर्म) के लिए प्रयत्न करना सम्भव नहीं है। अतः वे सर्वारम्भ या कर्म का परित्याग कर देते हैं।

गुणातीत होने के उपाय (२४।२६–२७ ।

क्षेत्र (त्रिगुणात्मिका प्रकृति) एवं क्षेत्रज्ञ (जीव चैतन्य) के संयोग ईश्वराधीन है—स्वाधीन नहीं है, यह पहले ही कहा जा चुका है। अतः सर्वभूतों के हृदय में अधिष्ठित सत्यसंकल्प, परमकारुणिक, आश्रितवत्सल, मायागुण से अस्पृष्ट किन्तु माया के

नियन्ता परमानन्दघन भगवान् वासुदेव को जो अव्यभिचारी (अनन्य) भक्तियोग द्वारा (अर्थात् तैलधारावत् अविच्छिन्न प्रेमवृत्ति से) सेवा करते हैं, उनके मन अन्त में सर्वसंकल्परहित होकर ध्येयवस्तु के साथ एक हो जाते हैं अर्थात् ध्याता, ध्येय एवं ध्यान ये तीनों निर्विकल्प समाधि में शुद्ध चैतन्यस्वरूप ब्रह्म में लीन होने पर सर्वगुणों से अतीत ब्रह्मभाव की (ब्रह्मस्वरूपता को) प्राप्त करते हैं। इसप्रकार भक्त सगुण ब्रह्म की उपासना करके भी निर्गुण ब्रह्मस्वरूप होकर गुणों से अतीत हो जाता है।

वस्तुतः ब्रह्मभाव भी भक्त के अपने स्वरूप से कोई पृथक् भाव नहीं है। यदि पृथक् होता तो अद्वैतहानि, परतन्त्रता एवं अपूर्णत्व रह जाने के कारण गुणों को पार करना असम्भव होता। अन्तरात्मा ब्रह्म अमृत (अविनाशी), अव्यय (अविकारी) शाश्वत (नित्य अर्थात् क्षय रहित—सनातन) धर्म तथा ऐकान्तिक (अव्यभिचारी) सुख (परमानन्द) स्वरूप है। ज्ञान (चैतन्य) ही यथार्थ धर्म है क्योंकि उसने ही सर्व जीव को धारण कर रखा है तथा वह सनातन ही नित्यधर्म या परब्रह्म है। अमृतादि शब्दों से ब्रह्मका सच्चिदानन्दरूपत्व सूचित किया गया है। इस प्रकार सच्चिदानन्द स्वरूप ब्रह्म का अधिष्ठान (आश्रय) अहं शब्द की लक्ष्य वस्तु अन्तरात्मा ही है। अतः ब्रह्म की प्रतिष्ठा अन्तरात्मा ही है अर्थात् सब जीवों के 'अहम्' शब्द से लक्षित शुद्ध चैतन्यस्वरूप अन्तरात्मा और ब्रह्म एक ही है एवं उन दोनों का एकत्व ज्ञान सगुण (सविकल्प) ब्रह्म (ईश्वर) की अनन्य भक्ति से सेवा करने पर ही होता है—अन्य कोई उपाय नहीं है। यही तीनों गुणों से अतीत होने के उपाय के बारे में भगवान् का अन्तिम सिद्धान्त हैं। इसप्रकार सम्यग्दर्शन ही मोक्ष है।

॥ चतुर्दशोऽध्यायः समाप्तः ॥
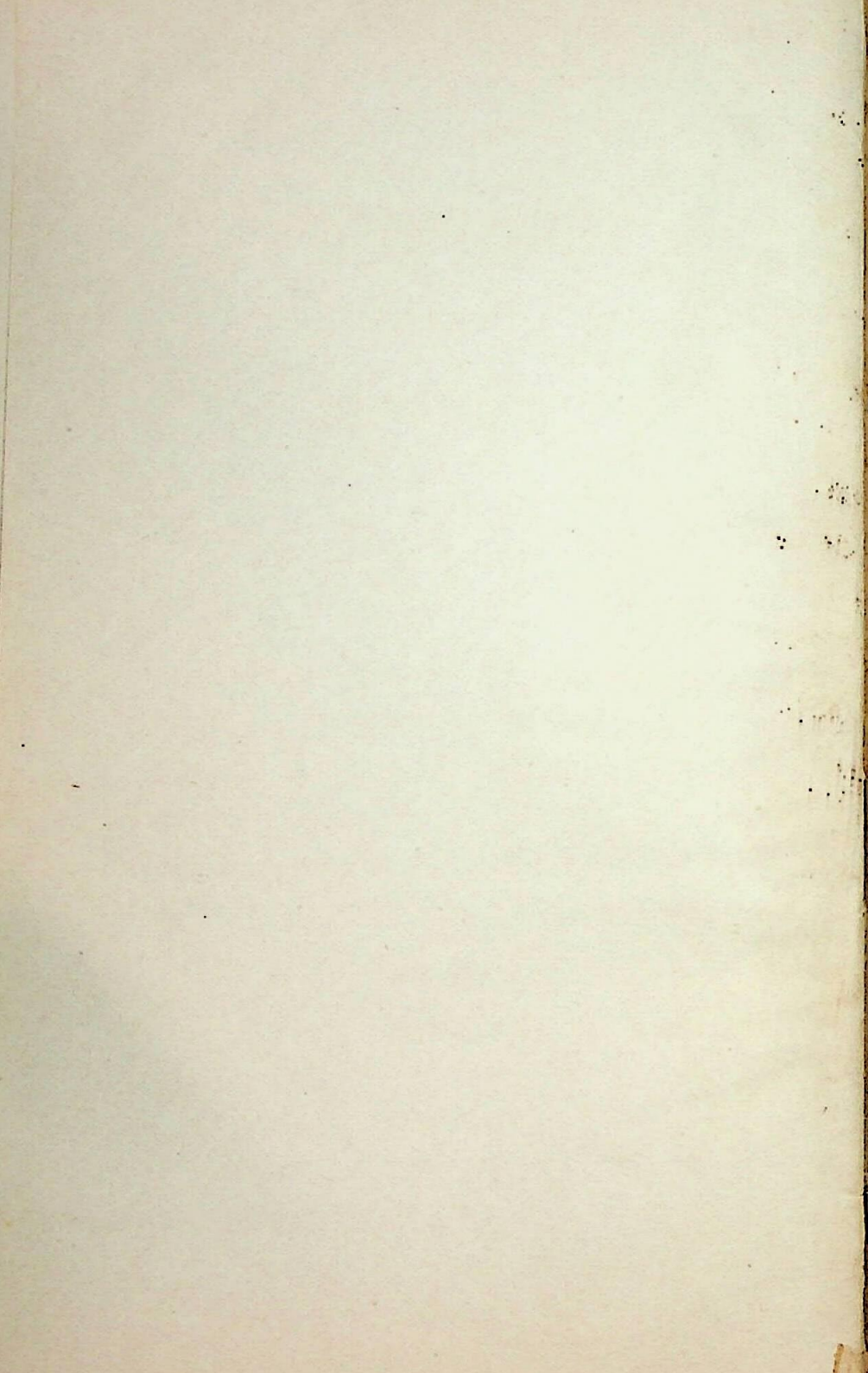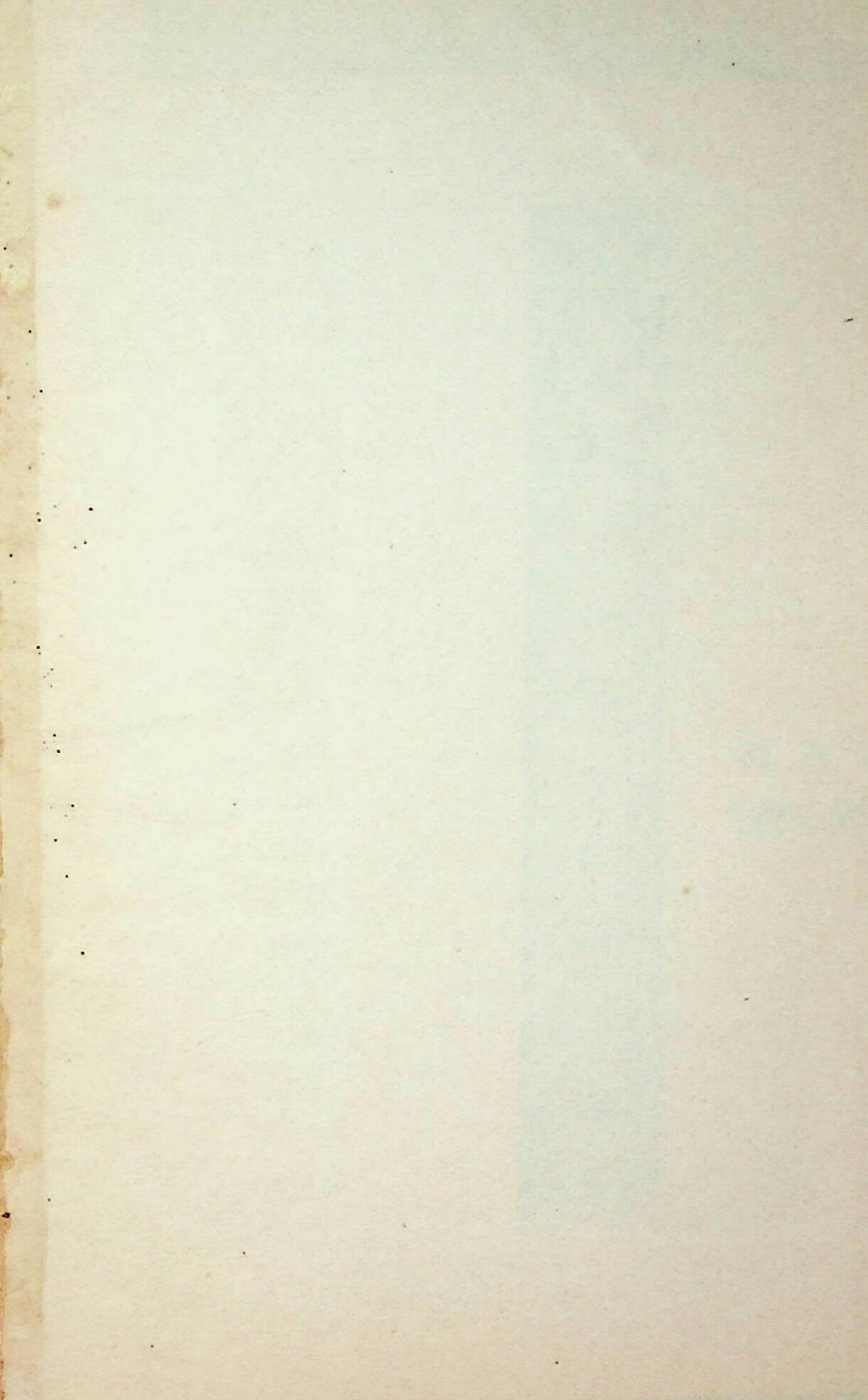
धिकं तत्त्वं न गुरोरधिकं तपः।
त परं नास्ति तस्मै श्रीगुरूवे नमः॥

ere is no truth greater than the
acher and there is no austerity more
uable. It is the Teacher who is the
rce of Self-knowledge beyond
ch there is nothing. Unto that
cher is my salutation!

– **Guru Stotram**